

धर्मायण

धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय
चेतना की पत्रिका

अंक : ६२

मास : आषाढ-भाद्रपद

विक्रमाब्द : २०६०

जुलाई-सितम्बर, २००३ ई०

सम्पादक - मण्डल

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

महन्त उद्धवदासजी

डा० श्रीरंजन सूरिदेव

प्रधान सम्पादक

प्रो० काशीनाथ मिश्र

सह - सम्पादक

मार्कण्डेय शारदेय

महावीर मन्दिर प्रकाशन

के लिए

प्रो० काशीनाथ मिश्र

द्वारा प्रकाशित

तथा

सर्चलाइट प्रेस में मुद्रित

पत्र-सम्पर्क:

धर्मायण,

पाणिनि-परिसर,

बुद्ध-मार्ग,

पटना-800001

मूल्य : सात रुपये



विषयसूची

❖ सम्पादकीय	:	२
❖ हर हर महादेव	:	आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ६
❖ आदिशंकराचार्य-कृत दशावतार-स्तोत्र	:	६
❖ आदिपुरुष मनु महाराज और मनुस्मृति का रचयिता सुमति भार्गव	:	आचार्य किशोर कुणाल ११
❖ सूरसाहित्य में द्वन्द्व समास	:	डा० युगेश्वर २१
❖ पाटलिपुत्र के राधावल्लभ- सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा	:	विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव २८
❖ वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठ	:	प्रो० रामाश्रय प्रसाद सिंह ३२
❖ सिद्धि माता	:	जयकान्त मिश्र ४२
❖ राष्ट्रहितैषिणी वीरांगना: माता कैकेयी	:	महेश प्रसाद पाठक ४६
❖ धर्म में समन्वय की भावना	:	डा० एस०एन०पी० सिन्हा ५०
❖ बन्धन-दायक है आसुरी सम्पत्ति	:	गोपालजी ५५
❖ विश्वविख्यात विचारकों की दृष्टि में हिन्दुस्तान और हिन्दुत्व	:	डा० भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता ५७
❖ सद्धर्म, स्वातन्त्र्य, स्वदेश-सेवा	:	माखनलाल चतुर्वेदी ६०
❖ संस्कारों के लौकिक एवं पारलौकिक महत्त्व	:	डा० रामविलास चौधरी ६१
❖ कबीर साहब की संवेदनशीलता	:	आचार्य सूर्यदत्त शास्त्री 'रक्ताभ' ६५
❖ हिन्दीसेवी विदेशी सन्त: डा० कामिल बुल्के	:	परमानन्द दोषी ६८
❖ भ्रूण-पंचाशिका	:	भवनाथ झा ७१
❖ गोचर में सिंहराशिगत बृहस्पति का प्रभाव	:	आचार्य राजनाथ झा ७४
❖ यशःशेष परमहंस रामचन्द्र दासजी	:	७७
❖ पाठकीय प्रतिक्रिया	:	७६
❖ व्रत-त्योहार	:	८०

दान्तो भक्तवशोऽस्मि भोः

संस्कृतकीर्ण

“माया नटी लकुटी कर लीन्हें कोटिक नाच नचावें।
दर-दर लोभ लाभ लिये डोलति नाना स्वांग बनावें।।”

यह तो भगवान् की माया की ही देन है कि सामान्य जन भक्ति का मूल्य नहीं समझ पाते। सांसारिकता के चक्रव्यूह में ऐसे फँस जाते हैं कि निकलना मुश्किल हो जाता है—

“ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहत त्यों-त्यों उरझत जात।”

उलझन-पर-उलझन ऐसी आती है कि मनुष्य न इहलोक को संवार पाता है, न परलोक को। न यहाँ का रह पाता है और न वहाँ का। वह सुख-शान्ति की खोज में आजीवन भटकता किसी भटके राही की भाँति सुनसान वीरान में दम तोड़ देता है।

जिसे भक्ति का स्वाद मिल चुका है, वह सांसारिक षड्रस को क्यों मूल्य देगा— “जिमि मधुकर अम्बुज-रस चाख्यौं क्यों करीलफल भावै?” परमात्मसुख की अपेक्षा सांसारिक सुख करीलफल ही तो हैं। भक्त तो “सब तज हरि भज” वाली सूक्ति को ही श्रेयस्कर मानता है।

भक्ति ईश्वर की आराधना का सहजतम मार्ग है। इसके लिए मन्त्र, यन्त्र, माहात्म्य, पूजा, पाठ, ध्यान, मुद्रा, विधि, अवस्था, सदाचरण आदि के ज्ञान की विशेष आवश्यकता भी नहीं। इसके लिए तो सर्वोपरि है आत्मसमर्पण। भगवान् ने स्पष्टतः कहा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

(गीता : १८.६६)

अर्थात् हे अर्जुन! सभी कर्तव्यों का परित्याग कर एक मात्र मेरी शरण में आ जाओ, फिर तो किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं कि मैंने यह नहीं किया, वह नहीं किया। कर्तव्यच्युति के पाप से मैं तुम्हें दूर कर दूँगा; सर्वथा निष्पाप कर दूँगा।

“सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुबेद बतावैं।
नारद से सुक सारद व्यास रहै पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छेहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।।”

“छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।” यह छाछ का कमाल नहीं, यह तो छाछवालियों की सर्वाधिक हार्दिक गुणवत्ता की देन है। ऐसा हृदय भगवान् को कभी-कभी और कहीं-कहीं प्राप्त होता है। यह प्रेमलक्षणा भक्ति है, जिसमें अन्य साधन ओछे पड़ जाते हैं। यह साधन है, पर ऐसा है जिसमें स्थूलतः तो कुछ नहीं दिया जाता, पर सूक्ष्मतः कुछ दिए बिना रहा भी नहीं जाता।

‘छछिया भरि छाछ’ भले दृष्ट नैवेद्य हो, पर उस नैवेद्य से भाव के भूखे भगवान् कभी तृप्त नहीं हो सकते और न बन्दर-भालूवाले के इशारे पर बन्दर-भालू बनकर नाचने ही वाले हैं। वह तो उन्हें नचानेवाली थी गोपियों की अनन्य, अचल एवं निर्मल भक्ति और उसी की शक्ति से उन्हें नाचना पड़ा।

मैथिलीशरण गुप्त की यशोधरा कहती है—
“भक्त कहीं जाते नहीं, आते हैं भगवान्।” भला भक्त उन्हें कहाँ ढूँढ़ते फिरेंगे? किससे-किससे पूछते चलेंगे? भक्त ने अपनी भावना का ऐसा भोग तैयार कर लिया कि उसका सौरभ भगवान् की घ्राणेन्द्रिय से जाकर रसनेन्द्रिय को प्रभावित करने लगा। सूँध-सूँधकर जब तृप्ति नहीं मिली, तब उतर-उतर आए स्वाद लेने। दूर रहे तब भी कारीगरी की प्रशंसा की। पास आए, तब भगवान् खुद बेमोल बिक गए— “जैसे रखो। जब तुम मेरा ही हो गए, तब तो मैं भी तुम्हारा ही बन गया। तुम जूठे बेर दो, तण्डुल दो या केले के छिलके ही खिलाओ। मुझे तो निश्चल प्रेम में पगी तुम्हारी हर चीज में असहज-अलौकिक रस ही मिलता है। मुझे इसके सिवा और चाहिए ही क्या?”



भला इससे बढ़कर सरलतम उपाय ही क्या है? इसीलिए तो एक भक्त कहता है—

कृष्ण त्वदीयपदपंकज-पंजरान्ते

अद्यैव मे विशतु मानस-राजहंसः ।

प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः

कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥

अर्थात् हे कृष्ण! मेरा मन-रूपी राजहंस आपके चरण-रूपी पिंजर में आज ही प्रवेश कर जाए; क्योंकि जब प्राण का प्रयाण होने लगेगा, उस समय तो कफ, वात, पित्त आदि विकारों के कारण कण्ठ भी जकड़ जाएगा; शरीर में वह शक्ति ही कहाँ रह पाएगी कि मैं आपका स्मरण कर सकूँगा?

आत्मनिवेदन-रूपी भक्ति नौवीं अर्थात् अन्तिम और सर्वोपरि है। यह कहने व सुनने में तो सरल है, पर है कठिन। माया की कठपुतली मानव सांसारिकता से कैसे दूर रह सकता है? वह ज्यों ही आत्मसमर्पण का संकल्प ले बैठता है, त्यों ही माया विकल्पों को ले आ खड़ी होती है— “अच्छा, पहले यह कर लो, पहले वह कर लो। ऐसा करो, वैसा करो।” मानव माया के मोड़ने पर मुड़ा कि भवबन्धन में बँधा। और ऐसा बँधा कि जीवन का सारा रस ही सूख गया; सर ही सूख गया। अब पछताए होत का चिड़िया चुग गई खेत।

प्राचीन आचार्यों एवं अनुभवी महर्षियों ने पूजा आदि के प्रति अनुराग से (पराशर), कथानुराग से (गर्ग), अपने सुख की चाह के दुराव आदि से (शाण्डिल्य) तथा अपने लिए किए जानेवाले कर्मों के त्याग एवं भगवद्-विस्मरण की व्याकुलता आदि से (नारद) चरम भक्ति की पहुँच बताई है।

भक्ति भी आसक्ति ही है। इसमें तन्मयता तथा तल्लीनता की आवश्यकता होती है। यह इष्ट से कई प्रकार से जा चिपकती है। नारदजी ने विविध प्रकार की आसक्तियों का दर्शन किया है, अतः उन्होंने ग्यारह संख्या बताई है— रूपासक्ति, गुणासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति एवं परमविरहासक्ति।

जब राक्षसराज हिरण्यकशिपु ने ज्ञान प्राप्त कर आए अपने पुत्र प्रह्लाद से कोई अच्छी बात जाननी चाही, तब उन्होंने नवविध भगवद्भक्ति को ही उत्तम बताते हुए कहा—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।

क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥

(भागवत : ७.५.२३-२४)

अर्थात् पिताजी! भगवान् के गुण, लीला, तथा नाम आदि का श्रवण; कीर्तन; रूप, नाम आदि का स्मरण; उनके चरणों की सेवा करना; पूजा करना; वन्दना करना; उनका सर्वथा दास बनकर रहना; मित्रभाव रखना तथा आत्मनिवेदन— ये ही नौ प्रकारवाली भक्ति मानव द्वारा भगवान् को समर्पणीय है और मैं इसी को अपना सर्वोत्तम उपार्जित ज्ञान मानता हूँ।

इन सभी भक्तियों की परम परिणति निष्काम है, परन्तु सकाम से भी निष्काम भक्ति दृढ़ हो जाती है।

आराध्य से जो माँगा, वह मिला। फिर देखा कि वह खुद मेरी जरूरतों को पूरा कर देता है। फिर सोचा, जरूरतें हैं ही क्यों? मेरी जरूरत को तो उसी तक सिमट जाना चाहिए। जब वही सब कुछ है, तब फिर यह-वह, ऐसा-वैसा क्यों करूँ— “त्वमेव सर्वं मम देवदेव।”

जब तक शास्त्रज्ञता का भान रहता है, तब तक मनुष्य काम्य भक्ति का आश्रय लेता है। मुझे अन्न, धन, वस्त्र, महल, समस्त भौतिक सुख प्राप्त हों; मेरे रोग-शोक का निवारण हो; मुझे स्वर्ग, मोक्ष आदि चाहिए। मैं यह पूजा करूँ, मैं वह पाठ करूँ; यह यज्ञ करूँ; वह योग; जप आदि करूँ। परन्तु जब भक्ति दृढ़ हो जाती है, तब कहने लगता है— मुझे मोक्ष, ऐश्वर्य, विशिष्ट ज्ञान या किसी तरह के सुख की वांछा नहीं है। मैं ये सब लेकर क्या करूँगा? इससे तो अच्छी भक्ति है। बार-बार जनमूँ और बार-बार मरूँ; कोई फर्क नहीं पड़नेवाला। भक्ति का साधन तन है और तन का धन भक्ति; फिर एक दूसरे को सम्पृक्त रखने से बढ़कर होगा ही क्या? क्यों मुक्ति पाकर सदा-सर्वदा के लिए निर्जीव हो जाऊँ?

अथ न धर्म न काम रुचि गति न चहउँ निरवान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन।।
(मानस : २.२०४)

पुनश्च,

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्यादरजः प्रपन्नाः।।
(भागवत : १०.१६.३६)

गीता में भगवान् ने चतुर्विध भक्तों में जिस ज्ञानी भक्त को श्रेष्ठ बताया है, वह शास्त्रज्ञानी न होकर एक मात्र भक्तिज्ञानी ही है। शास्त्रज्ञान से ही सही, जब उसे भक्ति की सर्वोत्तमता समझ में आई तब उसने 'वासुदेवःसर्वम्' जान लिया और मान लिया। फिर न तो सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति का अर्थ रह जाता है और न संकट-निवारण की आर्ति ही। जब मानव ने सब कुछ को भगवन्मय जान लिया, तब जिज्ञासा का स्थान ही क्या है? इसीलिए तो मीरा कहती हैं— "राम रतन धन पायो।"

भगवान् की भक्ति सर्वविध उत्तम ही है। भक्त जिस रूप में जैसे भजे। भगवान् को भी उसी तरह भजना है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता : ४.११)

☆ ☆ ☆

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम्।।

(चाणक्य)

जो सर्वव्यापक हैं, जो सर्वविग्रह हैं, जो विराट् हैं, वे भला किस तरह लकड़ी, पत्थर, मिट्टी आदि की मूर्तियों में अँट सकते हैं, पर उन्हें अँटना ही है, क्योंकि भक्त की चाहत है। भक्त ने किसी मूर्ति में उन्हें मान लिया। फिर वे कैसे तिरस्कार कर सकते हैं? वे तो भक्ति पर बिके हैं, भक्तक्रीत हैं। भक्त उनका क्रीतदास हो-न-हो; वे तो हैं ही—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेऽपि च।
मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।

भक्तों के कारण भगवान् विविध रूप धारण करते रहे, अवतार-पर-अवतार लेते रहे। अनित्य से नित्य, अदृश्य से दृश्य, पालक से पालित,

जनक से जनित, हर्ता से हृत तथा कर्ता से कृत होते रहे "जो सुख सूर अमर-मुनि-दुरलभ सो नैद-भामिनि पावै।" यह यशोदा की भक्ति का ही फल है तथा "सिव बिरंचि मुनि देवता, जाको अन्त न पावै। सो 'परमानन्द' ग्वाल कौ, हँसि भलौ मनावै।" यह गोपों का गोपबन्धु के प्रति अपार सख्यभक्ति का परिणाम है।

कवि देव के शब्दों में गोपियाँ उद्धवजी से कहती हैं—

रावरो रूप रह्यो भरि नैननि, बैननि के रस सौं सुति सानौ।

गात में देखत गात तुम्हारोई, बात तुम्हारिए बात बखानौ।।

गोपियों ने श्रीकृष्ण के रूप को आँखों में बसाया है, उन्हीं की चर्चा से कानों को तृप्त करती हैं, अपने शरीर में ही श्रीकृष्ण को देखती हैं तथा बात-में-बात उन्हीं की बात करती हैं। इस कारण वियोग में संयोग ही मानती हैं— तुम हौं न इहाँ यह हौं नहीं मानौ अर्थात् हम यह नहीं मानतीं कि तुम यहाँ नहीं हो।

और उधर जब उद्धवजी श्रीकृष्ण से ये बातें कहते हैं तो वे अपनी व्रजमयी दशा को व्यक्त करने लगते हैं अर्थात् वे ही व्रज हैं, उन्हीं में वृन्दावन है, उन्हीं में वीचिमयी यमुना है, उन्हीं में वन, कुंज, भौरों की गुनगुनाहट बंसीवट तथा रासलीला है।

यह है भक्ति की पराकाष्ठा। एक ओर भक्त भगवन्मय है तो दूसरी ओर भगवान् भक्तमय। भगवान् पर भक्त न्योछावर है तो भक्त पर भगवान् भी न्योछावर ही हैं। निष्काम, दृढ़ तथा भक्ति के कारण भक्त ने कुछ नहीं माँगा और भगवान् ने सोचा— "क्या-क्या दूँ!" भगवान् भी देय वस्तुओं को परख-परखकर छाँटते रहे। उन्हें कुछ दातव्य दिखाई ही नहीं दिया। उन्होंने मन-ही-मन कहा— "लो, मैं स्वयं को दे देता हूँ। मुझे ही ले लो; और कुछ तो रहा ही नहीं, जो देने लायक हो।"

नृसिंहपुराण में भगवान् अपनी इसी भक्ति-वशवर्तिनी प्रवृत्ति के कारण कहते हैं—

"यत्र यत्र भृगुश्रेष्ठ स्थितस्त्वं मां स्मरिष्यसि।

तत्र तत्र समेष्यामि दान्तो भक्तवशोऽस्मि भोः।।"

(११.६२)

अर्थात् हे भृगुकुल-श्रेष्ठ महर्षि मार्कण्डेय! तुम मुझे जहाँ-जहाँ याद करोगे, मैं वहाँ-वहाँ आ जाऊँगा। कारण यह है कि मैं सर्वथा स्वतन्त्र होकर भी भक्तों के वशवर्ती हूँ।

भगवान् का यह कथन किसी एक भक्त या एक ग्रन्थ तक ही सन्नद्ध नहीं, बल्कि येन केन प्रकारेण सभी में सर्वत्र देखा-सुना जा सकता है।

भक्ति का परिपाक साधना और अभ्यास से ही सुलभतम है। इन दोनों से ही भगवान् की शरणागति प्राप्त होती है और भक्त उनके, वे उसके होकर दोनों का तृतीय रूप ऐक्य में समाहित हो जाता है—

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा।

भगवच्छरणार्थित्वं साधनाभ्यासपाकतः।।

साधना और अभ्यास से सर्वप्रथम मनोमालिन्य, कपट, छल और क्षुद्रता का परित्याग करना पड़ता है, तभी भगवान् को किसी की भक्ति भी भाती है—

“निर्मल मन जन सो मोहि पावा।

मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।”

जो स्वयं को देने को तैयार हो, उसके साथ मन का मैल, कपट आचरण, छल तथा क्षुद्रता करना कहाँ उचित है? भगवान् तो साफ कहते हैं कि तुम मेरे हो जाओ, फिर मैं तुम्हारा ही हूँ। ‘तुम्हारा होने’ का मतलब तुम्हारी भक्ति का हूँ, परिपुष्ट प्रेम का हूँ।

☆ ☆ ☆

रसाचार्यों ने भक्ति को रसों में स्थान देते हुए इसका आलम्बन भगवान् के जिस स्वरूप के प्रति पुष्ट प्रेम हो, उसे माना है। उद्दीपन-रूप में भगवान् के विविध कार्यों, गुणों एवं भक्तों के सत्संग को; संचारीभाव औत्सुक्य, हर्ष, गर्व, निर्वेद, मति आदि को; अनुभाव रोमांच, नेत्रविकास, गद्गद् वचन को तथा स्थायीभाव अनुराग को माना है।

यह भक्तिरस सभी रसों से अधिक पेय है; तभी तो गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

**ब्रह्माभोधिसमुद्भवं कलिमलप्राध्वसनं चाव्ययं
श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवने संशोभितं सर्वदा।
संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकी-जीवनं
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्।।**

अर्थात् ब्रह्मरूपी समुद्र से उत्पन्न, भगवान् शंकर के चन्द्रमा के समान सुन्दर एवं उत्तम मुख में सर्वदा सुशोभित, कलिकाल के मल का निवारक, अविनाशी, संसार के समस्त रोगों को समाप्त करनेवाला दिव्यौषध, सुखकारी एवं जगन्माता जानकी के जीवन का आधार श्रीराम के नामरूपी अमृत का जो निरन्तर पान करनेवाले हैं, वे पुण्यात्मा धन्य हैं।

पद्मपुराणीय भागवत-माहात्म्य में भी इसी रस की महत्ता दिखाई गई है—

असारे संसारे विषयविषसंगाकुलधियः,

क्षणार्द्धं क्षेमार्थं पिबत शुक्गाथातुलसुधाम्।

किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे

परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्ति-कथने।।

(६.१००)

अर्थात् अरे सांसारिक सुख-रूपी विष के संसर्ग से व्याकुल बुद्धिवाले लोगो! तुम सब क्यों कुत्सित वार्तालाप-रूपी कुमार्ग पर भटक रहे हो? निज कल्याण के लिए आधा क्षण भी महर्षि शुकदेव के मुख से निकली भागवतकथा-रूपी अतुलनीय अमृत का पान कर लो। उसके सुनने से मिलनेवाली मुक्ति के उदाहरण तो परीक्षित ही हैं।

वास्तव में अनादि काल से बहती आ रही भक्ति की भागीरथी न जाने कितने और कैसे-कैसे लोगों को तारती आ रही है। एक-से-एक निन्द्य भी वन्द्य हो गए। ऐसों के लिए तो यमपाश भी उपहास का पात्र मात्र रह गया, तभी तो वे (यमराज) अपने दूत के कान में कहते हैं—

परिहर मधुसूदनप्रपन्नान् प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम्।

(नृसिंहपुराण : ६.१)

अर्थात् भगवान् विष्णु की शरण में गए लोगों को छोड़ देना; क्योंकि मेरा शासन वैष्णवतरो पर ही चलता है, वैष्णवों पर कदापि नहीं।



हर हर महादेव

□ आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

महादेव प्रकट हुए : कूर्मपुराण के अनुसार विष्णु भगवान् योगनिद्रा में शेषशय्या पर गाढ़ी नींद में सोए पड़े थे। जब वे एकार्णव समुद्र में शेषशय्या पर सो रहे थे, तभी उनके नाभिकमल (कमल-जैसी सुन्दर नाभि) से उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मा ने चारों ओर जल तो देखा ही, साथ ही भगवान् नारायण के भी दर्शन किए। ब्रह्मा को तब तक यही ध्यान था कि बस मैं ही अभी तक सबसे पहला पुरुष हूँ, इसलिए नारायण को देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ।

सोते हुए नारायण को जगाकर उन्होंने पूछा— “कहिए, इस समुद्र में अकेले सोनेवाले आपका क्या मैं परिचय पा सकता हूँ?” नारायण ने मुसकराते हुए कहा— “जितने भी लोक हैं, वे सब मेरे ही उपजाए हुए हैं और वे सब मेरे ही भीतर समा जाते हैं। मैं ही पुरुषोत्तम हूँ। पर यह बताइए कि आप कौन हैं?” ब्रह्मा ने कुछ गर्व के साथ कहा— “सब लोकों को बनानेवाला और रक्षा करनेवाला मैं ब्रह्मा हूँ। सारा संसार मुझमें ही तो बसा हुआ है।” नारायण ने कहा— “अच्छा! आपमें बसा हुआ है? क्या मैं उसे देख पा सकता हूँ?”

ब्रह्मा के ‘हाँ’ करने पर वे बहुत नन्हें से बनकर ब्रह्मा की नाक से होते हुए उनके पेट में जा पहुँचे और वहाँ सचमुच उन्होंने तीनों लोक देखे; जो देवताओं, असुरों और मनुष्यों से भरे पड़े थे। सब देख-भालकर वे धीरे से ब्रह्मा के मुख से होते हुए बाहर निकले चले आए। बाहर आकर उन्होंने ब्रह्मा से कहा— “आप चाहें तो मेरे भीतर भी सारा संसार बसा हुआ देख सकते हैं।”

नारायण के मुख से होकर उनके उदर में पहुँचने पर ब्रह्मा देखते क्या हैं कि उसमें करोड़ों ब्रह्माण्ड फैले पड़े हैं और उनका उदर कितना

लम्बा-चौड़ा है, इसका भी कोई अन्त नहीं है। उन्हें जब कोई बाहर निकलने का द्वार न मिल पाया, तब वे नाभि से ही बाहर निकलकर नारायण के पास आकर बोले— “आप अपने को समझ क्या बैठे हैं? आप मुझे अपने उदर में ही क्यों बन्द रखना चाहते थे?” नारायण ने कहा— “कोई बात नहीं। कम-से-कम यह तो आप जान गए कि आप मेरे नाभि-रूपी कमल से जनमें हैं। इसलिए आप मेरे पुत्र तो हो ही गए। पर यह भी समझ लीजिए कि मैं आपको अपने से भिन्न नहीं मानता।” यह सुनकर तो ब्रह्मा का सारा अभिमान गल बहा। वे पानी-पानी हो गए और मान गए कि हाँ, नारायण भी हैं और कहने लगे कि आपकी ही एक मूर्ति तो मैं हूँ और दूसरे आप हैं। बस हम दो ही हैं।

नारायण ने फिर मुसकराते हुए कहा— “आप अनादि, अनन्त, अव्यय, परमेश्वर शिव की शरण में चले जाइए।” इतने में ब्रह्मा देखते क्या हैं कि जटाओं का मुकुट बाँधे, हाथ में त्रिशूल लिए, बहुत ही गोरे-चिट्टे, अपने तेज से चमचमाते और गले में ग्रह, चन्द्रमा तथा तारों की माला लटकाए हुए भगवान् शिव वहाँ बड़े चले आ रहे हैं। उन्हें देखकर ब्रह्मा बहुत सहम गए और नारायण से पूछने लगे— “ये नीले रंग और तीन आँखोंवाले कौन पुरुष चले आ रहे हैं, जिनके हाथ में त्रिशूल है और जिनका मुख दमका पड़ रहा है?” नारायण ने कहा— “ये ही तो परमेश्वर, देवाधिदेव महादेव हैं, जिन्होंने सबको उत्पन्न भी किया है और जो प्रलय भी किया करते हैं। ये ही सदाशिव इधर चले आ रहे हैं। मुझे भी तुम इन्हीं की दूसरी मूर्ति समझो।”

ब्रह्मा झट उन्हें प्रणाम करने के लिए झुक गए। शिवजी बोले— “वत्स! चिन्ता न करो, संसार की सृष्टि करने के लिए मैंने ही तुम्हें सबसे पहले उत्पन्न किया है। मेरे ही शरीर से उत्पन्न होने के कारण तुम मेरी आत्मा हो। वर माँगो।” तब ब्रह्मा ने कहा— “मैं आपको ही पुत्र-रूप में चाहता हूँ।” शिवजी ने कहा— “ठीक है, तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी।”

महारुद्र : शिवपुराण के अनुसार जिस समय वाराहकल्प में भगवान् नारायण समुद्र में शेषशय्या पर सोए हुए थे, उसी समय उनके नाभिकमल से ब्रह्मा उत्पन्न हो गए। जब उन्होंने यह जानने के लिए चारों ओर मुँह घुमाया कि मैं कहाँ हूँ, तब उनके एक से पाँच मुख हो गए। ये पाँच मुँहवाले ब्रह्मा जब तप करने बैठे, तब उनके हृदय में नारायण ने प्रकट होकर वेदों का सारा ज्ञान उन्हें दे डाला। तभी ब्रह्मा ने अपने संकल्प से चार कुमार उत्पन्न किए— सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार। ब्रह्मा ने उन चारों पुत्रों को सृष्टि (सन्तान, प्रजा) उत्पन्न करने की आज्ञा दी; किन्तु उन्होंने दो टूक कह दिया कि यह हमारे बस की बात नहीं है।

उनके इस व्यवहार से ब्रह्मा को इतना क्रोध चढ़ आया कि उनकी भौंहें तन गईं और उनकी भौंहों के बीच से एक नीला-लाल (नील-लोहित), तीन आँखोंवाला बालक आ प्रकट हुआ। प्रकट होते ही वह चिल्ला-चिल्लाकर, रो-रोकर कहने लगा— “मेरा नाम बताओ और मुझे रहने का ठिकाना बताओ।” ब्रह्मा ने कहा— “तुम जन्म लेते ही चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगे इसलिए तुम्हारा नाम रुद्र होगा और तुम हृदय में, इन्द्रियों में, प्राण में, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र तथा तपस्या में जाकर मनु, मनु, महिनस्, महान्, शिव, ऋतध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव और धृतव्रत नामों से जा बसो। इन नामों के अनुसार धी, वृत्ति, उशना, उमा, नियुति, सर्पि, इला, अम्बिका, इरावती, सुधा और दीक्षा नाम की तुम्हारी पत्नियाँ होंगी।”

अब ब्रह्मा ने रुद्र को आज्ञा दी कि तुम सृष्टि करो। रुद्र ने अपनी सूझ-बूझ के अनुसार भूत, प्रेत, पिशाच और रोग आदि न जाने क्या-क्या ऊटपटाँग उत्पन्न कर डाले। यह देखकर तो ब्रह्मा घबरा उठे और रुद्र से बोले— “बस-बस, बहुत हो गया; यह सब बन्द करो। ये सब तो मुझे भी ले बीतेंगे।”

रुद्र ने पूछा— “तब मैं क्या करूँ?” ब्रह्मा ने सुझाया— “तुम पहले जाकर नारायण का ध्यान करके तप कर आओ, तब तुम ठीक ढंग की सृष्टि कर पाओगे।” यह सुनकर रुद्र तप करने जा बैठे।



कूर्मपुराण के अनुसार जब ब्रह्मा के मानस पुत्र सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार ने अपने पिता की आज्ञा नहीं मानी, तब ब्रह्मा बहुत दुखी हो उठे। उस समय भगवान् विष्णु ने उनसे कहा— “इसमें दुखी होने की कौन-सी बात है? आप तो भगवान् शंकर से वर माँग चुके हैं कि आप मेरे पुत्र बनें और उन्होंने यह वर दे भी दिया था। अब आप तपस्या करके उन्हीं को प्रकट कर लीजिए।”

ब्रह्मा बहुत दिनों तक बैठे तप किया किए, पर उसका कोई फल निकलता नहीं दिखाई दिया। इस असफलाता से वे क्रोध के मारे तमतमा उठे। उस समय उनके नेत्रों से जो आँसू गिरे, उनसे लाखों भूत और प्रेत बनकर उठ खड़े हुए। उन्हें देखकर ब्रह्मा को बड़ा प्रचण्ड क्रोध हुआ। उसी समय सहस्रों सूर्यों के समान तेज से भरे सदाशिव वहाँ आ प्रकट हुए और चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगे। उनके इस रोने के कारण ब्रह्मा ने उनका नाम रुद्र रख दिया, साथ ही उनके आठ नाम और रखे और उन्हें रहने के लिए आठ ठिकाने बता दिए। उनके आठ नाम थे— रुद्र, भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र और महादेव। इन आठों को रहने के लिए उन्होंने क्रमशः आठ ठिकाने बता दिए— सूर्य, जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु, आकाश, यजमान और चन्द्रमा। इन आठों की क्रमशः आठ पत्नियाँ हुई—

सुवर्चसा, उमा, विकेशी, शिवा, स्वाहा, दिशा, दीक्षा और रोहिणी।

☆ ☆ ☆

कूर्मपुराण के अनुसार रुद्र के प्रकट होने पर ब्रह्मा ने जब हाथ जोड़कर उनकी स्तुति की, तब रुद्र ने कहा— “तुम मुझे पुत्र-रूप में पाना चाहते थे न! इसलिए मैं उसी रूप में प्रकट हुआ हूँ। वैसे मैं बताए देना चाहता हूँ कि सारे संसार को उत्पन्न करनेवाला मैं ही हूँ और मैं ही अपने को तीन रूपों में बाँटे बैठा हूँ। मेरे दाहिने अंग से संसार को उत्पन्न करनेवाले तुम हुए हो, मेरे बाएँ अंग से संसार को बनाए रखने और पालते चलनेवाले नारायण हुए हैं। और हृदय से रुद्र रूप में मैं उत्पन्न होकर संहार करता चलता हूँ। और भी संसार में जितने रूप हैं तथा आगे होते रहेंगे, वे सब मेरी ही माया से तो हुए हैं और होते रहेंगे।”

☆ ☆ ☆

शिवपुराण में कथा आई है कि जब दैत्यों ने देवताओं को हराकर उनके रहने के सब ठिकाने भी छीन लिये, तब वे अपने पिता कश्यप के पास जाकर अपना रोना रोने लगे। यों तो कश्यप देवताओं के भी पिता थे और दैत्यों के भी। पर उन्होंने सोचा कि इन दैत्यों से क्यों ठाँय-ठाँय मोल ली जाए। उन्होंने वाराणसी जाकर शिवलिंग की स्थापना करके शिव-पार्वती की पूजा प्रारम्भ कर दी। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर शिव ने कहा— “वर माँगो।” कश्यप ने कहा— “मेरे पुत्र दैत्यों ने मेरे अदिति के पुत्र देवताओं को हरा डाला है। आप चलकर उनकी सहायता कर दीजिए।” भगवान् शिव ने उन्हें वर देकर उनके पुत्र के रूप में जन्म लेने का आश्वासन दे दिया। उनकी पत्नी सुरभि से वे ग्यारह रुद्रों के रूप में प्रकट हुए— कपाली, पिंगल, भीम, विरुपाक्ष, विलोहित, शास्ता, अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, शम्भु, चण्ड और भव। ये ग्यारहों रुद्र ईशान दिशा में रहते हैं।

☆ ☆ ☆

लिंगपुराण के अनुसार जब कठोर तप करते हुए ब्रह्मा के हाथ कुछ न लग पाया, तब उनकी भौहें तन गईं। उनके इस क्रोध की दशा में उनके नेत्रों से जो आँसू गिरे, उनसे अनेक भयंकर रोगों के देवता और सर्प उत्पन्न हो उठे। इस सृष्टि को देखकर ब्रह्मा बहुत पछताते हुए मूर्च्छित हो गए और उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया। उस छूटे हुए शरीर से रोते-बिलखते ग्यारह रुद्र आ प्रकट हुए, जो उस देह के प्राण थे।

☆ ☆ ☆

ब्रह्मपुराण के अनुसार जब ब्रह्मा को संसार रचने का कोई उपाय नहीं सूझ पाया, तब वे बहुत क्रुद्ध हो उठे और उनकी भौहों के बीच से महेश्वर प्रकट हो उठे जब ब्रह्मा ने उन्हें सृष्टि रचने की आज्ञा दी, तब वे तप करने के लिए जल में जा बैठे। यह देखकर ब्रह्मा को ऐसी झुँझलाहट हुई कि उनके शरीर से उनका क्रोध अर्धनारीश्वर के रूप में प्रचण्ड रूप धारण करके आ प्रकट हुआ। ब्रह्मा ने उसे आदेश दिया— “अपना शरीर दो भागों में बाँट लो।” यह कहकर वे अदृश्य हो गए। तत्काल अर्धनारीश्वर का एक भाग स्त्री हो गया और दूसरा पुरुष। उस पुरुष शरीर को उन्होंने और दस भागों में बाँट दिया और ग्यारहवें वे स्वयं बने रहे।

☆ ☆ ☆

लिंगपुराण के अनुसार ब्रह्मा ने विष्णु के नाभिकमल से जन्म लेकर जब रुद्र को सृष्टि रचने के लिए कहा, तब रुद्र ने अपने दस और रुद्र बना खड़े किए और अनगिनत भूत, प्रेत, पिशाच रच डाले। यह देखकर ब्रह्मा ने कहा— “वाह! आप तो ऐसी सृष्टि रचे डाल रहे हैं, जो प्रलय तक भी मरने का नाम न लेगी। कुछ ऐसी सृष्टि रचें जो, मरती-जनमती रहे।” रुद्र ने ब्रह्माजी से कहा— “यह मुझसे न हो सकेगा। ऐसी मरने-जीनेवाली सृष्टि करनी हो तो आप ही कर डालिए।” यह कहकर वे तप करने चले गए।

ॐ

आदिशंकराचार्य-कृत दशावतार-स्तोत्र



चलल्लोलकल्लोलकल्लोलिनीशस्फुरन्नक्रचक्रातिवक्राम्बुलीनः।

हतो येन मीनावतारेण शङ्खः स पायादपायाज्जगद्वासुदेवः॥१॥

चंचल एवं उत्ताल तरंगोंवाले, उछलते हुए मगरमच्छ से भरे समुद्र के बहुत घुमाववाले भँवर में जल रहनेवाले शंखासुर को जिसने मत्स्यावतार के रूप में मार डाला, वे विष्णु विपत्ति से संसार की रक्षा करें।

धरा निर्जरारातिभारादपारादकूपारनीरातुराधःपतन्ती।

धृता कूर्मरूपेण पृष्ठोपरिष्ठे स देवो मुदे वोऽस्तु शेषाङ्गशायी॥२॥

राक्षसों के महान् भार के कारण समुद्र के जल से व्याकुल तथा डूबती हुई पृथ्वी को जिसने कच्छप रूप में अपनी पीठ के ऊपर धारण किया; शेषनाग के फण पर शयन करनेवाले वे भगवान् विष्णु आप सबों को सुखी करें।

उदग्रे रदाग्रे सगोत्रापि गोत्रा स्थिता तस्थुषः केतकाग्रे षडङ्ग्रेः।

तनोति श्रियं स श्रियं नस्तनोतु प्रभुः श्रीवराहावतारो मुरारिः॥३॥

जिनके ऊपर उठे हुए दाँत पर पर्वत आदि के साथ पृथ्वी केवड़ा के फूल पर बैठे भौरे की तरह सौन्दर्य बिखेरती है, ऐसे वराहावतार धारण करनेवाले भगवान् विष्णु हम सबों का ऐश्वर्य फैलाएँ।

उरोदार आरम्भसंरम्भिणोऽसौ रमासम्भ्रमाभङ्गुराग्रैर्नखाग्रः।

स्वभक्तातिभक्त्याऽभिव्यक्तेन दारुण्यघौघं सदा वः स हिंस्यानृसिंहः॥४॥

सुन्दर, फुर्तीला तथा कठोर अग्रभागवाला नख, जो प्रारम्भ से ही हठी हिरण्यकशिपु की छाती को विदीर्ण करनेवाला है तथा जो (विष्णु) अपने भक्त की अतिशय भक्ति के कारण काष्ठ में भी प्रकट हुए वे नृसिंह रूप धारी आप लोगों के पापों का नाश करें।

छलादाक्लथ्य त्रिलोकीं बलीयान् बलिं सम्बन्ध त्रिलोकीबलीकः।

तनुत्वं दधानां तनुं संदधानो विमोहं मनो वामनो वः स कुर्यात्॥५॥

तीनों लोकों को आवृत करनेवाले बलशाली जिस वामन ने छल से छोटा रूप धारण कर फिर तीनों लोकों के समान शरीर धारण कर बलि को बाँधा, वे वामन आपलोगों के मन को शोकरहित करें।

हतक्षत्रियासृक् प्रपानप्रमत्तप्रनृत्यत्पिशाचप्रगीतप्रतापः ।

धराकारि येनाग्रजन्माग्रहारं विहारं क्रियान्मानसे वः स रामः ॥६॥

मारे गए क्षत्रियों के शोणित पीने से मदमत्त होकर झूमते हुए पिशाचगण जिनके प्रताप का गीत गाते हैं तथा जिन्होंने अग्रजन्मा (ब्रह्मण) कश्यप को दान के रूप में सम्पूर्ण पृथ्वी दे डाली, वे परशुराम आप लोगों के मानस पटल पर विहार करें।

नतग्रीवसुग्रीवसाम्राज्यहेतुर्दशग्रीवसन्तानसंहारकेतुः ।

धनुर्येन भग्नं महत्कामहन्तुः स मे जानकीजानिरेनांसि हन्तु ॥७॥

गरदन झुकाए हुए सुग्रीव को राज्य दिलानेवाले तथा रावण के विस्तार को नाश करने में 'केतु' (केतु ग्रह-जिसका उदय अनिष्टकारक माना गया है) के समान रामचन्द्र, जिन्होंने कामदेव का ध्वंस करनेवाले शिव के विशाल धनुष को तोड़ डाला था, वे जानकी के पति मेरे पापों का नाश करें।

घनाद् गोधनं येन गोवर्धनेन व्यरक्षि प्रतापेन गोवर्धनेन ।

हतारातिचक्री रणध्वस्तचक्री पदध्वस्तचक्री स नः पातु चक्री ॥८॥

जिस गोवर्धन श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत की महिमा से महावृष्टि से गायों की रक्षा की थी, वे शत्रुओं के चक्रव्यूह को तोड़ डालनेवाले, युद्ध में टूटे रथ के चक्रे को धारण करनेवाले तथा अपने पैर से चक्री (सर्प-कालिय) को ध्वस्त करनेवाले हैं; ऐसे चक्रपाणि श्रीकृष्ण हमारी रक्षा करें।

धराबद्धपद्मासनस्थाङ्घ्रियष्टिर्नियम्यानिलं न्यस्तनासाग्रदृष्टिः ।

य आस्ते कलौ योगिनां चक्रवर्ती स बुद्धः प्रबुद्धोऽस्तु मच्चित्तवर्ती ॥९॥

जिनकी दोनों पिंडलियाँ भूमि पर पद्मासन के द्वारा आपस में गुथी हुई हैं तथा जिन्होंने प्राणवायु को संयमित कर अपनी दृष्टि नाक के अग्रभाग पर टिका ली है, जो कलियुग में योगियों के चक्रवर्ती सम्राट् हैं; वे बुद्ध हमारे चित्त में रहते हुए जागृत रहें।

दुरापारसंसारसंहारकारी भवत्यश्ववारः कृपाणप्रहारी ।

मुरारिर्दशाकारधारीहकल्की करोतु द्विषां ध्वंसनं वः स कल्की ॥१०॥

दुष्टजनों के कारण अथाह समुद्र-से बने इस संसार का संहार करनेवाले, तलवार से प्रहार करनेवाले, घोड़े पर उसके बाल की तरह बने हुए अर्थात् अश्वारोही, कल्की रूप में अपने इच्छानुसार शठ बने हुए (ईहकल्की) एवं दशरूप धारण करनेवाले विष्णु भगवान् कल्की के रूप में लोगों के शत्रुओं का नाश करें।



आदिपुरुष मनु महाराज और मनुस्मृति का रचयिता सुमति भार्गव

□ आचार्य किशोर कुणाल

आज मनु महाराज के बारे में सबसे अधिक भ्रान्ति है। भ्रान्ति का मूल कारण है मानव-सभ्यता के आदिपुरुष और मनुस्मृति नामक ग्रन्थ के रचयिता को एक मानना। आज किसी को मनुवादी कहना उसका अपमान करने-जैसा हो चला है। यह अपशब्द तिरस्कार का पर्याय बन गया है। मनुवादी यानी दकियानूसी, जात-पात का बढ़ावा देनेवाला, दलितों का अधिकार छीननेवाला बन गया है। किन्तु यदि हम मनु महाराज को मनुस्मृति के रचयिता सुमति भार्गव से पृथक् कर देखते हैं तो मनु महाराज हमारे आदिपुरुष और परम पूज्य पूर्वज प्रतीत होते हैं जो आदर्श क्षत्रिय राजा थे, जिनसे समग्र सृष्टि विकसित हुई।

डा० अम्बेडकर साहेब को यह श्रेय जाता है कि उन्होंने पहली बार पुरजोर स्वर में नारदस्मृति के आधार पर यह उद्घोष किया कि वर्तमान मनुस्मृति का रचयिता सुमति भार्गव था। उनके निम्नलिखित निष्कर्ष अत्यन्त प्रासंगिक और सुसंगत हैं—

“प्राचीन भारत के इतिहास में मनु की संज्ञा आदरसूचक थी। इसलिए इस संहिता को गौरव प्रदान करने के उद्देश्य से मनु को इसका रचनाकार बताया गया है; क्योंकि ऐसी प्रथा प्राचीनकाल में प्रचलित थी। इस संहिता को भृगुवंश के साथ जोड़ा जाता है। भृगु की इस संहिता का वास्तविक नाम मनु की ‘धर्मसंहिता’ है। भृगु का नाम इस संहिता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में जोड़ा गया है। इस पुस्तक में ही हमें संहिता के लेखक के परिवार (कुल) के नाम की जानकारी मिलती है,

किन्तु लेखक का व्यक्तिगत नाम इसमें नहीं बताया गया है; इसके बावजूद अनेक लोगों को इस बात की जानकारी थी।

लगभग चौथी सदी में नारदस्मृति के लेखक को मनुस्मृति के लेखक का नाम याद था। नारद के अनुसार सुमति भार्गव नामक व्यक्ति ने मनुस्मृति की रचना की थी। सुमति भार्गव कोई काल्पनिक नाम नहीं है; यह अवश्य ही कोई ऐतिहासिक व्यक्ति रहा होगा; इसका कारण यह है कि मनुस्मृति के महान् टीकाकार मेधातिथि का यह विचार था कि यह मनु वास्तव में एक ‘व्यक्ति’ था। इस प्रकार, ‘मनु’ नाम सुमति भार्गव का उपनाम अथवा प्रच्छन्न नाम था और यही सुमति भार्गव इसका वास्तविक रचनाकार था।”

नारदस्मृति एवं मनुस्मृति की समीक्षा से यह निष्कर्ष सही लगता है। नारदस्मृति में स्पष्ट लिखा हुआ है कि सर्वप्रथम भगवान् मनु ने प्राणियों के हितार्थ एक लाख श्लोकोंवाला आचार-शास्त्र की रचना कर देवर्षि नारद को यह शास्त्र प्रदान किया। नारद ने इस शास्त्र का कलेवर विशाल पाकर उसे १२,००० श्लोकों में संक्षिप्त कर महर्षि मार्कण्डेय को सौंप दिया और मार्कण्डेय मुनि ने भी उसे और अधिक संक्षिप्त कर ८,००० श्लोकों में परिणत कर सुमति भार्गव को सौंप दिया। सुमति भार्गव ने उसका अध्ययन कर उसे ४,००० श्लोकों में संक्षिप्त कर दिया और तब से उसका अध्ययन पितरों और मनुष्यों में प्रारम्भ हुआ। नारदस्मृति का संगत उद्धरण यहाँ प्रस्तुत है—

“इह हि भगवान् मनुः प्रथमं सर्वभूतानुग्रहार्थ-
माचारस्थितिहेतुभूतं शास्त्रं चकार।

----- सुमतिरपि भार्गवस्तस्मादधीत्य
तथैवायुर्हासादल्पीयसी शक्तिर्मनुष्याणामिति चतुर्भिः
सहस्रैः संक्षिप्तं। तदेतत्पितृमनुष्या ह्यधीयते विस्तरेण
शतसहस्रं देवगन्धर्वादयः।”

मनु ने देवों, गन्धर्वादि दिव्य प्राणियों के लिए जो एक लाख श्लोकों का शास्त्र रचा था, उसे देवर्षि नारद ने पहले संक्षिप्त किया; फिर मार्कण्डेय मुनि ने और अन्ततोगत्वा सुमति भार्गव ने उसे संक्षिप्त किया और तब से यह शास्त्र पितरों और मानवों में प्रचलित हुआ। इस प्रकार मानवों में जो धर्मशास्त्र प्रचलित हुआ उसका सम्पादक सुमति भार्गव था। मनु महाराज का धर्मशास्त्र देव-गन्धर्वादि दिव्य प्राणियों के लिए था और सुमति भार्गव की रचना मनुष्यलोक में प्रचलित हुई। नारदस्मृति से यह भी स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति की मूल रचना मनु महाराज ने की थी, न कि ब्रह्माजी ने।

धर्मशास्त्र के महान् विद्वान् पी०वी०काणे ने भी ‘धर्मशास्त्र का इतिहास’ ग्रन्थ (पृ० ३१०) में यह स्पष्ट निष्कर्ष लिखा है कि मनुस्मृति का रचनाकार कौन है, यह कह पाना प्रायः असम्भव है। किन्तु निर्विवाद है कि मनुष्यों के जनक मनु इसके रचयिता नहीं हो सकते। काणे ने अज्ञातनामा लेखक द्वारा मनु को इसका रचयिता घोषित करने के पीछे ग्रन्थ को महिमा-मण्डित करना माना है।

मनुस्मृति की समीक्षा से भी यह तथ्य स्पष्ट होता है कि वर्तमान मनुस्मृति का रचयिता / उद्घोषकर्ता मनु महाराज न होकर भृगु ऋषि हैं। मनुस्मृति के प्रारम्भ में यह उल्लेख है कि एक बार महर्षियों ने मनु महाराज के पास जाकर सृष्टिरचना, वर्ण-व्यवस्थादि-विषयक अनेक प्रश्न किए, जिनके सम्यक् उत्तर मनु ने प्रथम अध्याय के चौथे श्लोक से ५८ वें श्लोक तक में दिए। तदन्तर मनु महाराज ने घोषणा की कि अब इसके बाद भृगु समग्र शास्त्र

को सुनाएँगे और उसके बाद भृगु उन सभी उपस्थित ऋषियों को प्रसन्न होकर शास्त्र सुनाने लगे—

एतद्बोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।

एतद्धि मतोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः॥५६॥

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः।

तानब्रवीदृषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति॥६०॥

इस प्रकार प्रथम अध्याय के ६१ वें श्लोक से लेकर अन्तिम द्वादश अध्याय के आखिरी श्लोक तक इस मानवशास्त्र का प्रवचन भृगु ऋषि द्वारा किया गया है। प्रथम अध्याय के अन्तिम श्लोक— “यथेदमुक्तवाञ्छास्त्रं परा पृष्टो मनुर्मया। तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत।।” में भी भृगु स्पष्ट रूप से यह घोषणा करते हैं कि पुराकाल में मैंने मनु से जो प्रश्न किए थे, उनके उत्तर में मनु ने जो बताया, वह तुमलोग मुझसे सुनो। इस मानवशास्त्र का अन्तिम श्लोक यह है—

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन् द्विजः।

भवत्याचारवान् नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद् गतिम्।।

(१२.१२६)

वर्तमान मनुस्मृति के प्रत्येक अध्याय के अन्त में इस प्रकार की पुष्पिका है—

“इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां.....
अध्यायः।”

इस प्रकार मनुस्मृति के अनुसार भी इस धर्मशास्त्र के प्रवक्ता भृगु ऋषि हैं। ये भृगु कौन हैं? इनकी पहचान नारदस्मृति के प्रारम्भिक प्रकरण से होती है और ये हैं— सुमति भार्गव। इस प्रकार वर्तमान मनुस्मृति के रचयिता हैं सुमति भार्गव और वर्तमान मनुस्मृति के जो भी सुन्दर या अन्धकारमय पक्ष हैं, उनके लिए सुमति भार्गव ही साधुवाद या भर्त्सना के पात्र हैं। इसलिए मनुस्मृति की आपत्तिजनक उक्तियों के लिए मनु महाराज की निन्दा का कोई औचित्य नहीं है।

पी०वी० काणे महोदय ने भी मनुस्मृति को आदि धर्मशास्त्र नहीं माना है। उनका निष्कर्ष निम्नलिखित है—

The description of Manu as the son of Brahmā and the primeval promulgator of laws is a mere camouflage or disguise. The extent Manusmṛti mentions such human authors as Atri, Utathya-tanaya, Saunaka, Bhṛigu (all in III.16), Vasistha (as laying down the proper rate of interest in VIII.140)

मनुस्मृति के तृतीय अध्याय का सोलहवाँ श्लोक है—

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।

शौनकस्य सुतोत्पत्या तदपत्यतया भृगोः ॥

इस श्लोक में शूद्रा के साथ विवाह करने पर क्या स्थिति होती है, इसके बारे में अत्रि, उतथ्य-तनय यानी गौतम, शौनक तथा भृगु के विचारों का उल्लेख किया गया है। अतः इससे स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति का रचयिता इन ऋषियों से परवर्ती है।

इस प्रकार, व्याज-निर्धारण के सन्दर्भ में अष्टम अध्याय के १४० वें श्लोक में स्मृतिकार वसिष्ठ का उल्लेख आया है—

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद् वित्तविवर्धनीम् ।

अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्दार्धुषिकः शते ॥

अतः यह स्पष्ट है कि मनुस्मृति की रचना के समय वसिष्ठस्मृति का अस्तित्व था; जिससे मनुस्मृति परवर्ती है।

इसी प्रकार मनुस्मृति के दशम अध्याय के ४४ वें श्लोक में पौण्ड्रक, ओड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पल्लव, चीन, किरात, दरद तथा खश जातियों / जनजातियों के उल्लेख से स्पष्ट है कि इसकी रचना मानवों के प्रथम पिता मनु के समय न होकर काफी बाद में हुई है। अतः मनुस्मृति ऋग्वेद की भाँति आदि धर्मग्रन्थ नहीं है

और न ही गीता की तरह भगवद्वाणी है; बल्कि यह एक स्मृतिग्रन्थ है, जिसकी रचना समाज के नियमन के लिए की गई और समय-समय पर इसमें श्लोकों की संख्या में वृद्धि या हास होता रहा है। तत्कालीन पुरोधों को यदि कोई श्लोक अनुकूल नहीं लगा तो उसका लोप हो गया और यदि सामाजिक शिकंजा कसने के लिए नए विधानों की आवश्यकता हुई तो नूतन श्लोकों की रचना कर दी गई। बहुत से प्रसंगों में तो पुराने श्लोकों के साथ नए श्लोक भी विद्यमान रहे; अतः मनुस्मृति में विरोधाभासी श्लोकों की भरमार है; चाहे वह मांसभक्षण का प्रसंग हो अथवा अन्तर वर्णीय विवाह या नियोग हो या दायभाग।

जी० ब्रुलर-जैसे विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि प्रारम्भ में एक मानव-धर्मशास्त्र था, जिसको कालान्तर में परिवर्तित, परिवर्धित कर वर्तमान मनुस्मृति का स्वरूप दिया गया। उस विवाद में हम नहीं पड़कर मात्र इतना कहना चाहेंगे कि मनुस्मृति का वर्तमान स्वरूप प्रारम्भिक काल का नहीं है, किन्तु करीब दो हजार वर्ष पुराना है और इसमें बहुत सारे श्लोक ऐसे हैं, जो आज के समाज को ग्राह्य नहीं हैं, अतः वे सर्वथा त्याज्य हैं। यह मैं नहीं, स्वयं मनुस्मृतिकार एवं याज्ञवल्क्य-स्मृतिकार लिखते हैं। विश्वास नहीं हो तो निम्नलिखित श्लोक पढ़ लें—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।

धर्म चाप्यसुखोदकं लोकसंक्रुष्टमेव च ॥

(मनुस्मृति : ४.१७६)

अर्थात् यदि धन और काम धर्मवर्जित हैं तो उनका त्याग कर देना चाहिए; इसी प्रकार यदि कोई धार्मिक विधान भी कालान्तर में दुःख देनेवाला तथा लोगों में गर्हित समझा जाने लगा हो तो उसे त्याग देना चाहिए।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य-स्मृति के प्रथम आचाराध्याय में स्पष्ट लिखा हुआ है—

कर्मणा मनसा वाचा यत्नाद् धर्मं समाचरेत्।

अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु ॥१५६॥

अर्थात् मन, वचन और कर्म से यत्नपूर्वक धर्म का आचरण करना चाहिए; किन्तु ऐसे धर्म का आचरण न करें, जो स्वर्ग देनेवाला न हो और लोक से विद्वेष करनेवाला हो।

इस प्रकार मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य-स्मृति दोनों का स्पष्ट निर्देश है कि जिस धार्मिक विधान से समाज में घृणा या द्वेष फैलता हो, उसका त्याग कर देना चाहिए।

वर्तमान मनुस्मृति में ऐसे बहुत से स्थल हैं, जो विषमता-बोधक हैं; अतः उन्हें त्याज्य माना जाना चाहिए, किन्तु ऐसे भी श्लोकों की भरमार है, जो सदाचार-प्रवर्तक हैं तथा समाज में आदर्श उपस्थित करने हेतु प्रेरक हैं; उनको ग्राह्य माना जाना चाहिए। जहाँ श्रुतियाँ यानी वेद शाश्वत हैं, वहीं स्मृतियाँ कालविशेष की नियमावलियाँ हैं। वे किसी विशेष कालखण्ड में उपयुक्त रही होंगी, किन्तु आज उन्हें भारतीय संविधान में निरूपित साम्य-सिद्धान्तों के निकष पर परखने के बाद ही सही होने पर अनुकरणीय माना जाना चाहिए।

पराशर-स्मृति एक महत्त्वपूर्ण स्मृति है, जिसपर शृंगेरीमठ के जगद्गुरु शंकराचार्य एवं सायण के अग्रज माधवाचार्य (१४ वीं सदी) की वैदुष्यपूर्ण टीका उपलब्ध है। इस स्मृति के अनुसार कृतयुग यानी सत्ययुग में मनुस्मृति का, त्रेतायुग में गौतमस्मृति का, द्वापर में शंखलिखित स्मृति का और कलियुग में पराशर-स्मृति का महत्त्व है—

कृते तु मानवा धर्मास्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः।

द्वापरे शङ्खलिखिताः कलौ पाराशराः स्मृताः।।

(१.२४)

इससे भी यह स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति का महत्त्व सत्ययुग में था; कलियुग में तो पराशर-स्मृति

अनुकरणीय है और माधवाचार्य-जैसे महान् विद्वान् तथा जगद्गुरु ने इसपर भाष्य लिखकर इसको और अधिक गौरवान्वित किया है।

किन्तु अतीत काल में मनु की वाणी का बहुत अधिक महत्त्व था। मनु का उल्लेख अनेक ऋग्वेदीय मन्त्रों में आया है और तैत्तिरीय संहिता (II.२.१०.१७) में लिखा है— “यद् वै किं च मनुर्वदत्, तद्भेषजम्” यानी मनु ने जो कहा है, वह औषध है। ताण्ड्य-ब्राह्मण (२३.१६.१७) ने भी मनु की वाणी को औषध का स्वरूप दिया है— “मनुर्वै यत् किं चावदत् तद्भेषजं भेषजतायै।” किन्तु ये उद्गार मनुस्मृतिकार के रचयिता मनु के सन्दर्भ में हैं या आदिकाल में व्याप्त मानव-धर्मशास्त्रकार के विषय में हैं अथवा वेदों में मनु के जो मन्त्र पाए जाते हैं, उनके बारे में हैं, यह निर्णय कर पाना कठिन है।

वर्तमान मनुस्मृति में इतने विरोधाभासी श्लोक हैं कि मनु की प्रत्येक वाणी औषध है; ऐसा कोई दावा नहीं कर सकता। अतीत में कोई मानव-धर्मशास्त्र नामक ग्रन्थ था या नहीं, निर्णय कर पाना कठिन है; क्योंकि एक ओर जहाँ जी० ब्रुलर-जैसे विद्वानों ने इसकी सत्ता सिद्ध करने का प्रयास किया है, वहीं काणे-जैसे महापण्डितों ने इसका खण्डन किया है। चूँकि तैत्तिरीय संहिता एवं ताण्ड्य-ब्राह्मण अति प्राचीन ग्रन्थ हैं, जो उत्तर वैदिक काल और मनुस्मृति की रचना के पूर्व के हैं, अतः अधिक सम्भावना है कि ये उद्गार मनु के मन्त्रों के बारे में हों या हम्मुराबी की तरह मनु महाराज द्वारा जारी उन शासनादेशों के बारे में हों, जिन्हें उन्होंने प्रथम सम्राट् के रूप में उद्घोषित किए हों। उन उद्घोषणाओं में कुछ तो वाल्मीकि रामायण में भी उपलब्ध मिलते हैं; यथा—

श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ।

गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया॥३०॥

अर्थात् मनु ने दो बातें राजाओं के लिए करने को बताई हैं और जिन्हें सभी भले लोगों ने सिर-माथे चढ़ाकर माना भी है। बस जो उन्होंने बताया है, वही मैंने भी किया है।

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः।

निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥३१॥

शासनाद् वापि मोक्षाद् वा स्तेनःपापात् प्रमुच्यते।

राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥३२॥

(वाल्मीकि-रामायण : ४.१८)

अर्थात् जो भी कोई पाप करके राजा का दिया हुआ दण्ड भोग लेते हैं वे भले लोगों-जैसे बनकर सीधे स्वर्ग जा पहुँचते हैं। राजा जब किसी चोर या पापी को दण्ड दे या छोड़ दे, तब उसका सारा पाप मिट जाता है और अगर राजा किसी पापी को दण्ड न दे, तो राजा को ही उसके पाप का फल भोगना पड़ता है।

मनुस्मृति में भी यही बात कही गई है-

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।

निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥

(८.३१८)

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते।

अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥

(८.३१६)

महाभारत में मनुस्मृति के बहुतसारे श्लोक मिलते हैं या यों भी कहा जा सकता है कि मनुस्मृति में महाभारत के बहुत सारे श्लोक मिलते हैं। यह समीकरण इसपर निर्भर करता है कि आप महाभारत या मनुस्मृति में किसको पूर्ववर्ती या परवर्ती रचना मानते हैं। हॉपकिन्स, ब्रुलर प्रभृति विद्वानों ने इस प्रकार के श्लोकों की तालिका प्रस्तुत की है। किन्तु यह विषय इस निबन्ध का ध्येय नहीं है; फिर भी बहुतसारे श्लोक ऐसे भी हैं जो ग्रन्थों या अभिलेखों में मनुस्मृति के बताए गए हैं; किन्तु वे वर्तमान मनुस्मृति में उपलब्ध नहीं हैं; यथा सातवीं सदी में

चालुक्य राजाओं के बदामी शिलालेखों में मनुस्मृति के निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत हैं, किन्तु ये वर्तमान मनुस्मृति में नहीं पाए जाते-

मनुगीतं श्लोकमुदाहरन्ति-

बहुभिर्वसुधा भुक्ता राजभिःसगरादिभिः।

स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम् ॥

‘वज्रसूची’ में मनु के विपुल श्लोक उद्धृत हैं; उनमें अनेक श्लोक वर्तमान मनुस्मृति में पाए जाते हैं, किन्तु कुछ उपलब्ध नहीं भी हैं; यथा-

“अधीत्य चतुरो वेदान् साङ्गोपाङ्गेन तत्त्वतः।

शूद्रात् प्रतिग्रहग्राही ब्राह्मणो जायते खरः ॥

खरो द्वादश जन्मानि षष्टिजन्मानि सूकरः।

श्वानः सप्ततिजन्मानि इत्येवं मनुब्रवीत् ॥”

इसके बाद के भी बहुत श्लोक हैं, जिनमें व्यास, वसिष्ठ, ऋष्यशृंग, विश्वामित्र, नारद आदि मुनियों को हीन कुल में जन्मा बताया गया है और जो मनुस्मृति के श्लोक के रूप में दिखाए गए हैं, वे वर्तमान मनुस्मृति में नहीं पाए जाते हैं। मनुस्मृति ने मात्र वसिष्ठ-पत्नी को अधम कुलोत्पन्ना माना है। वज्रसूचिकार ने मनुस्मृति को मानव-धर्मशास्त्र की संज्ञा दी है।

श्लोकों के अनुपलब्ध होने के अनेक कारण हो सकते हैं, किन्तु एक ही धर्मशास्त्र-मनुस्मृति में, जो सर्वाधिक प्रामाणिक धर्मशास्त्र माना जाता रहा है; विरोधाभासी श्लोकों का बाहुल्य एक ही तथ्य को इंगित करता है कि इसमें प्रक्षिप्त श्लोकों की प्रचुरता है। दृष्टान्त के तौर पर कुछ विषयों को लिया जा सकता है-

मनुस्मृति के तृतीय अध्याय के १२वें, १३वें श्लोकों में जहाँ वे ब्राह्मण-शूद्रा के विवाह की अनुमति देते हैं, वहीं १४वें से १६वें श्लोकों में इसका निषेध करते हैं। इसी प्रकार इसी अध्याय के २३वें से २६वें श्लोकों में मनुस्मृतिकार ने विरोधाभासी बातें कही हैं। २३वें श्लोक में उन्होंने ब्राह्मणों के

लिए प्रथम छह प्रकार के विवाह यानी ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर और गान्धर्व को धर्मानुकूल बताया है; वहीं २४वें श्लोक में उन्होंने प्रथम चार की ही संस्तुति की है। नवम अध्याय के ५६वें से ६३वें श्लोकों में उन्होंने नियोग की अनुमति दी है; यथा—

देवराद् वा सपिण्डाद् वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया।

प्रजेषिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥५६॥

यानी निज पति से सन्तान के न होने पर स्त्री देवर या सपिण्ड (सात पीढ़ी तक के सगोत्र) किसी पुरुष से सन्तान उत्पन्न करे।

किन्तु पाँच श्लोकों में नियोग की अनुशंसा करने के बाद वे ठीक नीचे छह श्लोकों में नियोग का पूर्ण निषेध करते हैं; यथा—

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।

न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥५७॥

यानी विवाह-मन्त्रों में कहीं भी नियोग का विधान नहीं है और न ही कहीं विधवा-विवाह का। इसी प्रकार मनु ने पंचम अध्याय के २७ वें श्लोक से ५६ वें तक में मांसभक्षण का विवेचन किया है, जिसमें उन्होंने अनेक श्लोकों में मांसभक्षण का समर्थन किया है; यथा—

नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान् प्राणिनोऽहन्यहन्यपि।

धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥३०॥

यानी प्राणियों को मारकर भोजन करनेवाला भी दोषी नहीं होता, क्योंकि ब्रह्मा ने ही खाद्य और खादक दोनों का निर्माण किया है।

किन्तु बहुत सारे श्लोकों में उन्होंने मांसभक्षण की पूर्ण निन्दा भी की है; यथा—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।

न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ हि देहिनाम्।

प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥

(मनुस्मृति : ५.४८-४९)

अर्थात् प्राणियों के बन्धन एवं वध करने पर ही मांस प्राप्त होने की बात पर विचार कर सभी प्रकार के मांसभक्षण से विमुख होना चाहिए।

वर्षे वर्षेश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।

मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥

(मनुस्मृति : ५.५३)

अर्थात् एक जो सौ वर्षों तक प्रतिवर्ष अश्वमेध यज्ञ करता है; और दूसरा जो केवल मांसभक्षण नहीं करता है— दोनों को एक समान पुण्यफल मिलता है।

मांसं भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहादम्यहम्।

एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

(मनुस्मृति : ५.५५)

विद्वान् लोग कहते हैं कि मांस शब्द मां (मुझे) सः (वह) इन दो शब्दों के योग से बना है, जिसका भाव मांसत्व है। इस प्रकार 'जिसे मैं यहाँ खाता हूँ वह मुझे' परलोक में खाएगा— यह अर्थ मांस शब्द का मांसत्व है।

इसी प्रकार द्वितीय अध्याय के १४५ वें श्लोक में उल्लेख है कि उपाध्याय से आचार्य दसगुना श्रेष्ठ; आचार्य से पिता सौगुना श्रेष्ठ और पिता से माता हजारगुना श्रेष्ठ हैं—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।

सहस्रं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते ॥१४५॥

किन्तु ठीक इसके बाद वाले (१४६) श्लोक में वर्णन है कि जन्म देनेवाला पिता और वेद पढ़ानेवाला आचार्य— दोनों में वेद पढ़ानेवाला आचार्य पिता से श्रेष्ठ हैं—

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता।

ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥१४६॥

इस प्रकार की स्पष्टतः विरोधाभासी उक्तियाँ एक रचयिता की नहीं हो सकतीं, अतः मनुस्मृति में प्रक्षेपों की भरमार है।

इसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध मनुस्मृति में कहीं-कहीं उदार विचारों का दर्शन होता है; जैसा कि निम्नलिखित श्लोक में है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाजातमेवन्तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च ॥

(१०.६५)

यानी शूद्र ब्राह्मणता को तथा ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त कर लेता है; इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य से उत्पन्न बालक भी अपने जन्म से भिन्न वर्ण को प्राप्त हो जाते हैं। कितनी लचीली वर्ण व्यवस्था प्रतीत होती है यहाँ!

इसी प्रकार निम्नलिखित श्लोक में ब्राह्मणत्व का आधार वेदाध्ययन माना गया है, न कि जन्म; क्योंकि मनुस्मृति का स्पष्ट निर्देश है कि जो ब्राह्मण वेदों का अध्ययन नहीं करके अन्यत्र श्रम करता है, वह जीते जी ही अपने समग्र वंश के साथ शूद्र बन जाता है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

(२.१६८)

मनुस्मृति के इस निकष पर जन्मना ब्राह्मणत्व का दावा व्यर्थ सिद्ध हो जाता है और केवल वेद-विद्वान् ही ब्राह्मण कहलाने के अधिकारी हैं; वेदज्ञान-विहीन ब्राह्मण तो शूद्रता को प्राप्त कर चुके हैं।

इसी द्वितीय अध्याय के १७२ वें श्लोक में जब यह उल्लेख मिलता है—

“शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ।”

अर्थात् जब तक बालक का उपनयन नहीं हो जाता, तब तक वह शूद्र ही कहलाता है; तब सहसा स्मृत हो उठता है—

“जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते ।”

अर्थात् जन्म से सभी शूद्र के रूप में होते हैं; संस्कार यानी उपनयन से ही द्विजता प्राप्त होती है।

ये कितने उदात्त विचार हैं मनुस्मृति के!

किन्तु इसके विपरीत ऐसे श्लोकों की भी भरमार है, जिनमें ब्राह्मणों को जन्म से ही श्रेष्ठ माना गया है और शूद्रों को पशुवत् समझा गया है। ऐसे श्लोकों से पाठक पूर्व-परिचित हैं; अतः उन्हें उद्धृत करना समय और स्थान का अपव्यय है।

मनुस्मृति के मनन से यह स्पष्ट होता है कि मनुस्मृतिकार ने धर्म, आचार आदि विषयों पर बहुत से स्थलों पर अतिशय व्यापक उदात्त विचार व्यक्त किए हैं, जिन्हें कोई भी समाज गौरवपूर्वक अपना सकता है, किन्तु वर्ण-व्यवस्था एवं दण्ड-विधान आदि अनेक विषयों पर उनकी ऐसी बहुत-सी उक्तियाँ हैं, जिनको सभ्य समाज स्वीकार ही नहीं कर सकता और ये कुत्सित वचन मधुर क्षीर में गरल-सदृश प्रतीत होते हैं; अतः सर्वथा त्याज्य हैं।

इन प्रसंगों को उद्धृत करते समय मेरा इतना ही निवेदन है कि वैषम्य-विष से बुझे इन बाणों के लिए मनुस्मृति के रचयिता सुमति भार्गव या अज्ञातनामा उस विद्वान् को कोसें, जिसने इसकी रचना की। इसके लिए मानव समाज के पुरोधा, प्रथम पुरुष, सबों के जनक मनु महाराज पर प्रहार न करें, जो एक आदर्श राजा थे, जिन्होंने आदर्श शासन एवं प्रणम्य न्याय का सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत कर इस देश को समग्र धराधाम पर महिमा-मण्डित किया।

भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में मनु महाराज की अतिशय प्रतिष्ठा रही है। किन्तु इनके बारे में जनमानस को अत्यल्प जानकारी है। मनुस्मृति के रचयिता के रूप में इनके बारे में सामान्य धारणा यह बनती है कि ये अतिशय संकीर्णतावादी, शूद्रों एवं नारियों के विरोधी, विषमता के पोषक एवं ब्राह्मणवाद के प्रवर्तक कोई कट्टर ब्राह्मण थे; अतः आज मनुवादी कहना इन्हीं आरोपों का पर्याय माना जाता है। किन्तु यदि आपको यह पता चले कि मनु ब्राह्मण नहीं क्षत्रिय राजा थे और इस मन्वन्तर के

मनु 'वैवस्वत' पूर्व जन्म में द्रविड़ राजा थे तो शायद आपको लगेगा कि जिन्हें आप मनुवादी कहकर गाली देते हैं, उनकी अब आप प्रशंसा करने लगे हैं। पुराणों के अनुसार एक कल्प में चौदह मनु होते हैं जिनके अधिकार-काल को मन्वन्तर कहते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर में चार युग होते हैं और इन चार युगों का योग ४३,२०,००० वर्ष होता है। इन युगों का भी मान निम्नलिखित रूप से मिलता है—

कलियुग	—	४,३२,००० वर्ष
द्वापर	—	८,६४,००० वर्ष
त्रेता	—	१२,९६,००० वर्ष
सत्ययुग	—	१७,२८,००० वर्ष
कुल	—	४३,२०,००० वर्ष

अब तक छह मन्वन्तर बीत चुके हैं और यह सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है। प्रत्येक मन्वन्तर के मनु का नाम पुराणों में मिलता है। यद्यपि कहीं-कहीं पुराणों में एकाध नामों में अन्तर है; तथापि निम्नलिखित मन्वन्तरों के नामों पर प्रायः सहमति है—

- | | |
|-----------------------|-------------------------|
| १. स्वायम्भुव मनु | २. स्वरोचिष मनु |
| ३. उत्तम मनु | ४. तामस मनु |
| ५. रैवत मनु | ६. चाक्षुष मनु |
| ७. वैवस्वत मनु | ८. सार्वर्णि मनु |
| ९. दक्षसार्वर्णि मनु | १०. ब्रह्मसार्वर्णि मनु |
| ११. धर्मसार्वर्णि मनु | १२. रुद्रसार्वर्णि मनु |
| १३. देवसार्वर्णि मनु | १४. इन्द्रसार्वर्णि |

अन्तिम दो मनुओं के नाम भागवत-पुराण के हैं। पुराण में इनके नाम रुचि तथा भौम हैं और मार्कण्डेय पुराण में रौच्य तथा भौत्य। वर्तमान मन्वन्तर के वैवस्वत मनु को श्राद्धदेव के नाम से भी जाना जाता है।

इन चौदह मनुओं में दो ही मनु महत्वपूर्ण माने जाते हैं—प्रथम मनु जो स्वायम्भुव मनु थे और वर्तमान मनु जो वैवस्वत मनु हैं। स्वायम्भुव मनु ब्रह्मा के प्रथम पुत्र और पृथ्वी के प्रथम सम्राट् थे।

इनकी पत्नी का नाम शतरूपा था, जिनसे उनके उत्तानपाद तथा प्रियव्रत नामक दो पुत्र और आकृति, देवहूति एवं प्रसूति नाम की तीन कन्याएँ हुईं। स्वायम्भुव मनु इतने धर्मनिष्ठ और वीतराग थे कि उन्होंने अपने पुत्र प्रियव्रत को समग्र पृथ्वी का शासन अपने जीवनकाल में ही सौंप दिया और वे वन में तपस्या करने चले गए। वे प्रतापी, पुण्यात्मा पृथ्वीपति थे जिन्होंने धर्म को पुत्रवत् समझा। भक्तराज ध्रुव इन्हीं के पौत्र थे।

अब प्रचलित मन्वन्तर के अधिपति वैवस्वत मनु का आख्यान संक्षेप में दिया जा रहा है। भागवत-पुराण के नवम स्कन्ध के प्रथम अध्याय के द्वितीय श्लोक में यह वर्णन मिलता है—

योऽसौ सत्यव्रतो नाम राजर्षिर्द्रविडेश्वरः।

ज्ञानं योऽतीतकल्पान्ते लेभे पुरुषसेवया।।

स वै विवस्वतः पुत्रो मनुरासीदिति श्रुतम्।।

अर्थात् पिछले कल्प के अन्त में जो द्रविड़ देश के स्वामी राजर्षि सत्यव्रत थे, जिन्होंने भगवान् की सेवा से ज्ञान प्राप्त किया था, वही इस कल्प में वैवस्वत मनु हुए।

अब प्रश्न उठता है कि ये द्रविड़ राजा सत्यव्रत कौन थे? भागवत के ही अष्टम स्कन्ध के अन्तिम अध्याय में उनका वृत्तान्त दिया हुआ है। जब भगवान् ने मत्स्यावतार ग्रहण किया, तब जिस राजा को अपने प्राण बचाने के निमित्त बनाया, वही राजा सत्यव्रत थे, जो द्रविड़ देश के स्वामी थे। वे नारायण-भक्त थे और जल पीकर ही रहते थे। उन्हीं के कमण्डलु में भगवान् ने मीन-रूप धारण कर "त्राहि माम्" की याचना कर उन्हें गौरव प्रदान किया था। भगवान् के मत्स्यावतार की कथा सर्वविदित है; अतः उसका विस्तार नहीं किया जा रहा है। किन्तु भागवत के अनुसार यही द्रविड़देशीय सत्यव्रत वर्तमान मनु वैवस्वत मनु बने, जिनका एक नाम श्राद्धदेव भी था—

तत्र राजर्षिः कश्चित्राम्ना सत्यव्रतो महान् ।
 नारायणपरोऽतप्यत् तपः स सलिलाशनः ॥
 योऽसावस्मिन् महाकल्पे तनयः स विवस्वतः ।
 श्राद्धदेव इति ख्यातो मनुत्वे हरिणार्पितः ॥
 एकदा कृतमालायां कुर्वतो जलतर्पणम् ।
 तस्याञ्जल्युदके काचिच्छफर्येकाभ्यपद्यत ॥
 सत्यव्रतोऽञ्जलिगतां सह तोयेन भारत ।
 उत्सर्सज नदीतोये शफरीं द्रविडेश्वरः ॥

इस प्रकार वैवस्वत मनु क्षत्रिय राजा थे। इनके दस पुत्र हुए। भागवत के अनुसार उनके नाम हैं—(१) इक्ष्वाकु (२) नृग (३) शर्याति (४) दिष्ट (५) धृष्ट (६) करूष (७) नरिष्यन्त (८) पृषध (९) नभग और (१०) कवि।

इनमें ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु के वंश में ही भगवान् श्रीराम का अवतार हुआ। इसी वंश में राजा सगर, भगीरथ, हरिश्चन्द्र, मान्धाता, दिलीप और रघु—जैसे प्रतापी राजा हुए। कालान्तर में भगवान् बुद्ध का भी जन्म इक्ष्वाकुओं की एक शाखा शाक्यवंश में हुआ।

भागवत के अनुसार वैवस्वत मनु के अन्य पुत्रों का जो वर्णन मिलता है, उसके अनुसार कनिष्ठ पुत्र का नाम कवि था। वह विषयों से अत्यन्त निःस्पृह था; अतः वह राज्य छोड़कर वन में चला गया और अपने हृदय में भगवान् को बिठाकर वह को किशोरावस्था में ही परम पद पा गया।

मनुपुत्र करूष से कारूष नामक क्षत्रिय उत्पन्न हुए। वे अत्यन्त धर्मवत्सल ब्रह्मोपासक एवं उत्तरापथ के रक्षक थे। पं० बलदेव उपाध्याय ने उन्हें बिहार के दक्षिण-पश्चिम तथा रीवाँ राज्य के पूर्व सोनभद्र तट का राजा माना है, जिसमें पूर्व का समग्र शाहाबाद जिला समाविष्ट था।

मनुपुत्र धृष्ट के धार्ष्ट नामक क्षत्रिय राजा हुए। आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार इनके वंशजों ने पूरबी पंजाब पर शासन किया। किन्तु

धार्ष्ट स्वयं क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गए। भागवत में उल्लेख है—“धृष्टाद् धार्ष्टमभूत् क्षत्रं ब्रह्मभूयं गतं क्षितौ”। इस प्रकार, मनु का यह वंश तीसरी पीढ़ी में ही क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गया।

मनुपुत्र नृग के पुत्र का नाम था— सुमति! सुमति से भूतज्योति और उससे वसु नामक पुत्र हुआ। वसु से प्रतीक और प्रतीक से ओघवान् का जन्म हुआ। ओघवान् के पुत्र का भी नाम ओघवान् था और पुत्री थी— ओघवती, जिसका विवाह सुदर्शन से हुआ।

मनुपुत्र नरिष्यन्त से चित्रसेन का जन्म हुआ। उससे ऋक्ष; ऋक्ष से मीढ्वान्, मीढ्वान् से कूर्च और उससे इन्द्रसेन की उत्पत्ति हुई। इन्द्रसेन से वीतिहोत्र, तदनन्तर सत्यश्रवा, उससे उरुश्रवा और उससे देवदत्त का जन्म हुआ। देवदत्त के अग्निवेश्य नामक पुत्र हुए, जो अग्निदेव के अवतार थे। बाद में वही कानीन एवं महर्षि जातूकर्ण्य के नाम से विख्यात हुए। ब्राह्मणों का ‘आग्निवेश्यायन’ गोत्र उन्हीं से चला। भागवत में स्पष्ट उल्लेख है—

“ततो ब्रह्मकुलं जातमाग्निवेश्यायनं नृप।”

इस प्रकार वैवस्वत मनु का यह दूसरा वंश है, जो कालान्तर में क्षत्रिय से ब्राह्मण बना।

अन्य मनुपुत्र दिष्ट के पुत्र का नाम नाभाग था; वह अपने कर्म से वैश्य बन गया। भागवत में स्पष्ट उल्लेख है— “नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यतां गतः।” यह अम्बरीष-पिता नाभाग से पृथक् राजा है। मनु के पौत्र नाभाग का कर्मणा वैश्य बन जाना और वैश्य होने पर भी पूरे वंश में साम्राज्य का समाहित रहना वर्ण-व्यवस्था के लचीलेपन को ही उजागर करता है। इसी वंश में मरुत—जैसे चक्रवर्ती राजा हुए और इसी वंश में बहुत बाद में राजा विशाल हुए, जिन्होंने वैशाली नगरी बसाई।

मनुपुत्र शर्याति की कथा उनकी पुत्री सुकन्या के च्यवन ऋषि के साथ विवाह के कारण विश्रुत

है। शर्याति ने आनर्त देश (उत्तर सौराष्ट्र) में अपना राज्य स्थापित किया था।

मनुपुत्र पृषध की कथा अत्यन्त रोचक किन्तु कारुणिक है। गुरु वसिष्ठ ने उसे गायों की रक्षा का दायित्व दे रखा था। वह रात्रि में पूरी सावधानी से वीरासन में बैठकर गायों की रक्षा करता था। सम्राट् मनु का पुत्र गायों की रखवाली करे, इससे बड़ा प्रमाण मनु की न्यायप्रियता का क्या हो सकता है? एक रात घनघोर वर्षा में एक बाघ गायों के झुण्ड में घुस गया। अन्धेरे में भी सजग पृषध तुरन्त तलवार लेकर बाघ को मारने के लिए प्रस्तुत हुआ, किन्तु बाघ की उपस्थिति के कारण गायें भाग-दौड़ करने लगीं और पृषध की तलवार बाघ की गर्दन पर पड़ने के बजाय गाय की ग्रीवा पर पड़ गई और अनजाने में उससे गोवध हो गया। इसपर कुलपुरोहित ने उसे शाप दे दिया— अब तुम क्षत्रिय नहीं रहकर, शूद्र हो जाओगे— “न क्षत्रबन्धुः शूद्रस्त्वं कर्मणा भवितामुना।”

इस प्रकार मनु का एक पुत्र शूद्र हो गया। मनु का यह शूद्रपुत्र पृषध अपने अनुज ‘कवि’ की तरह वीतराग होकर ब्रह्मलीन हो गया। इस प्रकार मनु के नौ पुत्रों का यह वृत्तान्त भागवत में मिलता

है। कुछ पुराणों में मनु के नौ पुत्रों का ही उल्लेख है। मनु के एक पुत्र के नाम ‘नभग’, ‘नाभाग’ ‘नाभानेदिष्ठ’, ‘नाभागारिष्ठ’ में भिन्नता मिलती है। नाभानेदिष्ठ की गाथा ऐतरेय ब्राह्मण (२२.६) तथा तैत्तिरीय संहिता (३.१.६.४-५) में मिलती है, जिससे पता चलता है कि मनु ने अपनी सम्पत्ति अपने पुत्रों एवं पुत्री के बीच वितरित की, किन्तु उन्होंने नाभानेदिष्ठ को भाग नहीं दिया। इससे भी मनु की न्याय-प्रियता एवं वीतरागता का प्रमाण मिलता है। मनु की एक पुत्री ‘इला’ की कथा विचित्र है, जो पुरुष और स्त्री दोनों रूपों में थी और इसी से प्रसिद्ध ऐल वंश चला, जिसमें पुरुरवा-जैसे प्रतापी एवं प्रसिद्ध राजा हुए।

इस प्रकार मनु एक अत्यन्त उदार, महान् क्षत्रिय राजा थे, जिन्होंने अपने दो पुत्रों को ब्राह्मण, एक पुत्र को वैश्य और एक पुत्र को शूद्र बनने दिया। ऐसे उदार कितने राजा हुए हैं इस देश में? शायद कोई और नहीं। फिर भी हम अज्ञानवश मनु पर जातिवादी होने का आरोप लगाते हैं। इससे अधिक गर्हित अन्याय अपने आदिम पूर्वज, प्रथम पुरुष के साथ और क्या हो सकता है?



त्वद्वार्ता प्रयतो ब्रवीमि यदहं सास्तु स्तुतिस्ते प्रभो
यद्धुंजे तव सन्निवेदनमथो यद्यामि सा प्रेष्यता।
यच्छान्तः स्वपिमि त्वदंघ्रियुगले दण्डप्रणामोऽस्तु मे
स्वामिन् यच्च करोमि तेन स भवान् विश्वेश्वरः प्रीयताम् ॥

हे प्रभो! मैं प्रयत्नपूर्वक जो बोलता हूँ वह आपकी स्तुति हो, जो भोजन करता हूँ वह आपका नैवेद्य हो, मेरा चलना-फिरना आपकी सेवा-टहल हो, मेरा थककर सो जाना वह आपके चरणकमलों की प्रणति हो। हे स्वामिन्! हे जगदीश्वर! मैं जो भी करता हूँ उसी से प्रसन्न हों।

सूरसाहित्य में द्वन्द्व समास

□ डा० युगेश्वर

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे समासों में द्वन्द्व हैं। समास वे स्वयं हैं। द्वन्द्व उनकी सृष्टि, संसार है। समास में सब है। द्वन्द्व में भी सब है। केवल एक होकर भी नहीं है। द्वन्द्व समास है। अतः द्वन्द्व-मूलक भगवान् संसार में हैं। द्वन्द्ववाला संसार भगवान् में है। द्वन्द्व भगवान् का विस्तार है। भगवान् अनन्त हैं। उनमें संसार ही क्यों? अनेकानेक ब्रह्माण्ड हैं। परमात्मा न जाने क्या-क्या, कितना अपने में समेटे है। इसे ही कविवर सूरदास द्वन्द्व के माध्यम से व्यक्त करते हैं।

द्वन्द्व का आरम्भ वसुदेव और देवकी के ब्याह से होता है। देवकी और वसुदेव स्त्री और पुरुष स्वयं में द्वन्द्व हैं। यह द्वन्द्व ही मिथुन है। यह द्वन्द्व मिथुन-सृष्टि का मूल है। सृष्टि है। देवकी और वसुदेव की विदाई होती है। देवकी का भाई कंस उनके आदर में रथ हाँक रहा है। अत्यन्त प्रसन्नता का वातावरण समास है। इस प्रसन्न समास में आकाशवाणी द्वन्द्व उत्पन्न करती है— देवकी के गर्भ का आठवाँ बालक मामा कंस का वध करेगा। कंस की प्रसन्नता शोक और क्रोध में बदल जाती है। वह देवकी को मारने के लिए खड्गहस्त है। वसुदेव समझाते हैं। सन्धि करते हैं— बहन को मत मारिएगा। जन्म लेते ही मैं अपनी सन्तानों को आपको सौंप दूँगा।

द्वन्द्व में विराम लगता है। किसी ने कंस के द्वन्द्व की चर्चा नहीं की। सम्भवतः कंस को द्वन्द्व हुआ भी नहीं। द्वन्द्व देवकी को हुआ। वसुदेव को हुआ। सन्तान को मरवाकर जीवन रखने का द्वन्द्व।

कंस ने उनके द्वन्द्व को समझा। अतः कैद कर लिया। क्रोध में द्वन्द्व सम्भव नहीं। द्वन्द्व हो तो क्रोध नहीं। क्रोध हो तो द्वन्द्व नहीं। देवकी को सन्तान होती रही। कंस उन्हें मारता रहा। सातवें को भागा माना। आठवें में कन्या का छद्म हुआ। नारद ने बताया— कंस! तुम्हें मारनेवाला गोपों के बीच है। मारनेवाला राजधानी नहीं, गाँव में है। कंस का द्वन्द्व पुनः आरम्भ होता है। “लाओ, पकड़ो। अकूर, व्रज जाओ, जैसे भी हो कृष्ण को मथुरा लाओ। वह मुझे मारे, इसके पूर्व ही मैं उसे मार डालूँ।”

वृन्दावन में तरह-तरह के उत्पात हो रहे हैं। कंस के अनेक अनुचर वेश बदलकर आते हैं। कृष्ण को मारने का प्रयास करते हैं। किन्तु स्वयं मारे जाते हैं। कृष्ण सबको नष्ट कर देते हैं। उनकी भागवत सत्ता है। भला भगवान् को कौन मार सकता है? वे तो सबको मारनेवाले हैं। नाश, निर्माण, जन्म और मृत्यु के द्वन्द्व उनकी लीलाएँ हैं। उनकी उम्र मत देखिए। वे देखने में छोटे हैं, किन्तु शक्ति के अपार बल के स्रोत हैं। बालक हैं, किन्तु युवा के शौर्य करते हैं। कोमल हैं, किन्तु कठोर कार्य करते हैं। माखन चुराकर आनन्द देते हैं। गोपियों के संग नाचते हैं। प्रेमी हैं। प्रेम का विस्तार करते हैं। दूसरी ओर कंस के, उनके सभी दूतों के शत्रु हैं। सहज-सहज में शत्रुता निभाते हैं। शस्त्ररहित हैं, किन्तु वध-विशेषज्ञ हैं।

नन्द, यशोदा का बालक एवं राधा, गोपी का कामदेव। कंस के लिए यम। कृष्ण गाय चराते हैं। वंशी बजाते हैं। चीरहरण करते हैं। दूसरी ओर

इन्द्र का गर्वहरण करते हैं। कालिया को नाथते हैं। उसके फण पर नृत्य करते हैं। एक तरफ है रास नृत्य की कोमलता। दूसरी ओर है कालिया की कठोरता। द्वन्द्व लोक में है। इन दृश्यों को देख लोक रोता है। हँसता है। किन्तु कृष्ण सदा एक रस हैं। द्वन्द्व को छिपाए-पचाए। सम, समास बने। सब करके भी अकर्ता।

कृष्ण का जन्म द्वन्द्व है। प्रत्येक जन्म द्वन्द्व-परिणाम है। जब तक जगत् है, द्वन्द्व है। द्वन्द्वरहित जगत् सम्भव नहीं है। द्वन्द्व के कारण ही जगत् में गति है। संसार संसरण करता है। समास में गति नहीं है। द्वन्द्व गति का कारण है। गति द्वन्द्व है। कृष्ण-जन्म मथुरा में होता है। गोकुल में होता है। मथुरा का जन्म मौन है। चुप-चुप। गोकुल में बधाई बज रही है। वसुदेव, देवकी का घर सूना है। किसी घटना का आभास भी नहीं। नन्द, यशोदा के यहाँ उत्सव हो रहा है। भीड़ जुटी है। यशोदा के कन्हैया हुआ है। गोपियाँ वंशी की तान से प्रसन्न हैं। कंस के लिए वह मृत्युध्वनि है। गोकुल की वंशी की ध्वनि वन, उपवन, यमुना के कछार, गोपों, गोपियों के घरों में सुनाई पड़ रही है। मथुरा तक यह ध्वनि नहीं जाती है। जाती है। मौन होकर जाती है। इस ध्वनि को सुनकर गोपियाँ घरों से निकल आती हैं। नाच रही हैं। कंस नाचना भूल रहा है। घर में घुस रहा है। उसके कान बधिर हैं। यह वंशीध्वनि नहीं। यमदेवता के निमन्त्रण-स्वर हैं।

यशोदा के लिए कृष्ण अपने पुत्र से बढ़कर हैं। देवकी को अवसर नहीं मिला। निश्चित ही देवकी व्याकुल हुई होगी। स्वयं माता-पिता ने कृष्ण को भगाया था। आज की भाषा में पुत्र की रक्षा के लिए, पुत्र का अपहरण किया था। मथुरा में पुत्र-वियोग का दुःख। किन्तु सुरक्षा का सुख। गोकुल में अपनी कोख का न होकर भी आनन्द। अभिमानिनी कुब्जा ठीक कहती है— **नाहिन स्याम**

तुम्हारे पीतम, ना जसुमति के जाए। कितना कठोर सत्य है। इसे सुनकर यशोदा को कैसा लगा होगा? कैसा लगा होगा कृष्ण को वसुदेव और देवकी से बिछुड़े रहने का दुःख? इस द्वन्द्व को गोरे बलराम और बढ़ाते हैं— नन्द-यशोदा गोरे हैं। कृष्ण! तुम कैसे काले हो गए? कृष्ण ने माखनलीला, वेणुवादन, चीरहरण आदि द्वारा अपने दुःख का कभी स्मरण नहीं किया। हाँ, अपने पिता को जेल देनेवाले को कभी क्षमा नहीं किया। सभी लीलाओं के साथ-साथ दुष्टदमन-लीला भी चलती रही। कृष्ण ने बचपन में दुष्टदमन की भरपूर लीला की थी। शेष द्वारका में की। किन्तु कुरुक्षेत्र को मुक्त रखा। यहाँ शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की। घोड़ा घुमाया। चक्र सुदर्शन रखकर भी उसका कभी, कहीं प्रयोग नहीं किया।

कृष्ण को दो माताओं का द्वन्द्व था ही। एक तीसरी माँ भी आ गई। दूध पिलाकर मारनेवाली माँ। जन्म देनेवाली माँ बालक की रक्षा के लिए उसे छोड़ती है। पालनेवाली माँ पालती है। सम्पूर्ण अपनत्व देती है। पहली माँ राजधानी की कैद में है। दूसरी ग्रामीण है। गाँव का सहज स्नेह देती है। तीसरी माँ नहीं है। माँ का छद्म रूप है। हत्यारिन है। फलतः मारी जाती है। यह न माँ है, न कृष्ण सन्तान हैं। कृष्ण प्यार को प्यार और वध को वध देते हैं। पूतना का अर्थ पूत, ना करना चाहिए। पूतना सरकारी कर्मचारी है। शासन के आदेश से आई थी। नौकरी चाहते हो तो वध भी करो। पूतना स्वयं में घृणित हुई, इसे कृष्ण ने समझा। सरकारी सेवा की मजबूरी है। उन्होंने माँ बनी राक्षसी को भी मुक्त कर दिया। एक तरफ है क्रूरता। बालक के साथ की क्रूरता। दूसरी ओर है बालक की उदारता। दानव और देवता का अन्तर।

मिट्टी खाना बालक-स्वभाव है। बालक कृष्ण भी मिट्टी खाते हैं। किन्तु कृष्ण का मिट्टी खाना असाधारण है। उद्देश्यपूर्ण है। अपने मुख में माता

यशोदा को अखिल ब्रह्माण्ड दिखाते हैं— मुख में तीनि लोक दिखाए, चकित भई नन्दरनियाँ। सर्वसमर्थ होकर भी कृष्ण असमर्थता की अनेक लीलाएँ करते हैं। बालक बनकर गिरते-पड़ते चलते हैं। राक्षसवध में कभी-कभी संकटग्रस्त हो जाते हैं। तब सारा वृन्दाधाम रोने लगता है। व्याकुल हो जाता है। किन्तु तुरन्त ही कृष्ण मुक्ति की लीला करते हैं। राक्षसवध कर ब्रज को सुखी करते हैं।

महारास के लिए वंशी बजाते हैं। गोपियाँ घरों से निकल आती हैं। कृष्ण उन्हें घर लौटने को कहते हैं। उनकी अस्वीकृति से रास आरम्भ होता है। गोपियाँ प्रसन्न हैं। कृष्ण उनके हैं। उनके वश में हैं। गोपियाँ व्याकुल हो जाती हैं। कृष्ण को खोजती हैं। वन की ओर जाती हैं। रात है। वन है। दोनों भयानक। किन्तु गोपियाँ तो प्रेमोन्मत्त हैं। प्रेम में केवल प्रेमी दिखाई पड़ता है। कृष्ण नहीं मिल रहे हैं। उनके पदचिह्न हैं। उनके पदचिह्न के साथ किसी प्यारी का पदचिह्न है। कुछ दूर बाद कृष्ण के पदचिह्न हैं। प्यारी सम्भवतः थक गई थी। वह कृष्ण के कन्धे पर आ गई। इस कल्पना में गोपियों का दुःख और बढ़ा दिखाई पड़ा।

चोर की कहीं, किसी रूप में प्रतिष्ठा नहीं है। कृष्ण माखनचोर हैं। गोपियाँ उनकी चोरी पसन्द करती हैं। शिकायत कर चोरी का आनन्द लेती हैं। कृष्ण भी अभाव में नहीं, लीला के लिए चोरी करते हैं। चोरी करके भी कृष्ण चोर नहीं हैं। नहाती गोपियों का चीरहरण कर भी वे लम्पट नहीं हैं। वृन्दावन, गोकुल में प्रेम है। रसरास है। किन्तु लम्पटता का कोई स्थान नहीं है। कृष्ण का कोई कार्य छिपकर, आँखें बचाकर नहीं होता है। सम्पूर्ण ब्रज में कृष्ण-प्रेम है। कृष्ण भी सबसे प्रेम करते हैं। किन्तु यह प्रेम एक दिन वियोग में बदल जाता है। कृष्ण मथुरा आ जाते हैं। वियोग कृष्ण को कम, गोपियों को अधिक है। कृष्ण के वियोगवचन

औपचारिक-जैसे हैं। गोपियों के लिए कृष्ण, केवल कृष्ण हैं।

मथुरा आए कृष्ण कुब्जा को अपना प्रेम देते हैं। कृष्ण का कुब्जाप्रेम कई दृष्टियों से महत्त्व का है—

(१) कुब्जा कृष्णप्रेम चन्दन के बदले में पाती है।

(२) कुब्जा कंस की सैरन्ध्री (चन्दन लगानेवाली) होकर उसे छोड़ती है। कृष्ण को अपनाती है। यह कुब्जा का साहस था। उसकी समझदारी थी। वह कंस से ऊबी होगी। तभी कृष्ण से प्रभावित हुई।

(३) कृष्ण ने कुब्जा के त्याग और प्रेम का आदर किया। गोकुल के कृष्ण सौन्दर्य के प्रेमी थे। मथुरा के कृष्ण असुन्दर को सुन्दर बनाते हैं। वैद्य बनते हैं। कुब्जा का कूबड़ दूर करते हैं। मथुरा के कृष्ण नागर हैं। अतः नाचने, गाने की स्वतन्त्रता नहीं है। फलतः कृष्ण कुब्जा को अपनाकर भी उससे जुड़ नहीं सके। मथुरा के कृष्ण शासन के अंग हैं। वे मथुरा में प्रेमप्रचार नहीं करते। शासक बदलते हैं। कंस उनके लिए मामा नहीं राक्षस है।

(४) गोकुल के सभी कार्य समूह में होते हैं। सामूहिक प्रेम, सामूहिक चोरी, सामूहिक नृत्य आदि। मथुरा में व्यक्तिगत प्रेम है। कुब्जा अकेली है। कृष्ण अकेले हैं।

(५) गोकुल के कृष्ण राधा का शृंगार करते हैं। मथुरा में कुब्जा कृष्ण का चन्दन-शृंगार करती है। मथुरा के कृष्ण का सामाजिक स्तर राजकुल का है। ऐसे में कुब्जा के यहाँ जाना उनकी कृपा है। नर्तकी के घर जाने-जैसा है।

गोकुल के कृष्ण में प्रेम और मथुरा के कृष्ण में शक्ति की मुख्यता है। कृष्ण गोकुल में विस्तार के लिए गए थे। प्रेम ऐसा कि सगी माँ की अपेक्षा पालिका माँ श्रेष्ठ हो जाए। सगी पत्नी की अपेक्षा कामरहित प्रेमिका अधिक महत्त्व प्राप्त करे। अविवाहित

राधा महत्त्वपूर्ण है। रुक्मिणी का वह महत्त्व नहीं है। मथुरा पहुँचते ही कृष्ण की शक्ति का आरम्भ हो गया। फिर भी प्रेम छूटा नहीं। कृष्ण मूलतः प्रेम हैं। उन्होंने धोबी को मारा और कुब्जा से प्रेम किया। पहले कंस की सेना को मारा। तब कंस का वध किया।

कृष्ण प्रेम अपने लिए करते हैं। वध लोक के लिए करते हैं। कंस को मारकर नाना उग्रसेन को राजा बनाया। शत्रु को भी मुक्ति देना कृष्ण की समानता है। मूल में उनका कोई भी शत्रु नहीं है। शत्रु-मित्र दोनों ही उनकी द्वन्द्व लीला के लिए हैं। वे ही शत्रु-मित्र दोनों के उत्पादक हैं। दोनों ही उनके उपासक हैं। वैर भी कृष्णभक्ति है। **वैर भाव सुमिरहिं मोहि निसिचर।**

कृष्ण का स्पष्ट द्वन्द्व मथुरा और गोकुल के बीच है। मथुरा का कंस मामा होकर भी शत्रु है। मथुरा राजधानी है। नगर है। गोकुल गाँव है। गोकुल में प्रेम, पशु, पक्षी, वन, जल आदि की प्रधानता है। मथुरा में यह सब कुछ नहीं है। गोकुल का पक्षी मोर कृष्ण को देखकर नाचता है। मथुरा का पक्षी काग कृष्ण को मारने आया है— **काग रूप इक दनुज धर्यो।** मोर देव है तो काग दनुज है। कंस-प्रतिनिधि का दनुज होना स्वाभाविक है। कंस स्वयं भी दनुज-सन्तान है। प्रभु कृष्ण अन्तर्यामी हैं। वे अमर-उधारन एवं असुर-संहारन हैं। अन्तर्यामी कृष्ण दोनों को जानते हैं। दोनों का उचित कार्य करते हैं।

गाँव का व्यक्ति शहर में आकर सम्पन्न होता है। कृष्ण राज्य-सत्ता से जुड़ गए हैं। गोपियों की दृष्टि में वे मथुरा में राजा हैं। शासन-सत्ता में हैं। गोकुल के कृष्ण गाय चराते, मक्खन चुराते, प्रेम की वंशी बजाते थे। मथुरा में यह सब सम्भव नहीं। गोकुल के कृष्ण कन्हैया हैं। गोपाल हैं। मथुरा के कृष्ण महाराज श्रीकृष्णचन्द्रजी हैं। गोपजाति बदल

गई है। गोचारण गिरवर-धारण छूट गया है। जो धूल में लिपटता था। जिससे धूल लिपटती थी। वह व्यक्ति राजधानी में कस्तूरी, मलय चन्दन, कपूर, कुमकुम, केसर आदि से सजाया, सँवारा जा रहा है।

मथुरा में मोरमुकुट, पीताम्बर का स्थान नहीं है। गोकुल में गायें भी कृष्ण के लिए रोती हैं— **हूँकति लीन्हें नाउँ।** गायें पशु हैं। कृष्ण द्वारा पोषित हैं। उनमें कृष्ण-चेतना है। गायों और राधा की एक जैसी स्थिति है। राधा मलिन हैं। साड़ी नहीं धुलवाती हैं। मुख गिराए हैं। सारे शृंगार छूट गए हैं। कृष्ण के बिना राधा मैली हैं। गायें कृसगात हैं। दोनों दुखिया हैं। दोनों रोती हैं। राधा सहज मृतक हो गई हैं। गायें प्रतिक्षण पछाड़ खाकर गिर-गिर पड़ती हैं।

अत्यन्त दीन-दुखी हैं। गायें अकेली नहीं हैं। राधा भी अकेली नहीं हैं।

यह सम्पूर्ण गोकुल का दशाचित्र है। कृष्ण को गोकुल-जैसा प्रेम, सहजता फिर कभी नहीं मिली। राजधानी सहज नहीं, औपचारिकता का स्थान है। औपचारिकता में न परिवार है, न सहज स्वच्छदता। गोकुल के कृष्ण सहज हैं। उन्मुक्त और स्वच्छन्द हैं। तरह-तरह की स्वेच्छा से लोगों को आनन्द देते हैं। गोकुल गाँव आनन्द का स्थान है। राजधानी मथुरा अनुशासन का दरबार है। गोकुल में संग, संगी हैं। मथुरा निस्संग है। सारे सम्बन्ध नियमों, कानूनों में बँधे हैं। व्यक्तिवाद का विकास शहरों, राजधानियों में हुआ। गाँव की अपेक्षा शहर राजधानियों के अधिक निकट हैं। प्रत्येक नगर, शहर, छोटी राजधानी है। नगर में प्रेम की सहजता तो दूर, प्रेम का चांचल्य है। यहाँ भ्रमरवृत्ति है। इसी से भ्रमर मथुरा के कृष्ण का प्रतिनिधि है। नगर के स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध क्षणिक है— **घरी पहर सबहिनि बिरमावत, चेत आवत कारे।** यहाँ प्रेम में भी कालिया

है। कुब्जा (कुण्ठित) प्रेम है। व्रज का प्रेम बाल्यावस्था से है।

मथुरा में कृष्ण बाल्यावस्था की कैद में रहते। वज्र में कैद का प्रावधान नहीं है। यहाँ बन्धन है। किन्तु वह दण्ड नहीं। सुधार के लिए है। शहरी की मुखभाषा और हृदयभाषा और होती है। यहाँ छिपाना है। गाँव में सब स्पष्ट है।

मथुरा में कृष्ण गोकुल का भावुक स्मरण करते हैं। यही भावुकता गोकुल में है। उद्धव व्रज से मथुरा लौट रहे हैं। वे गोकुल की भावना से प्रभावित हैं, क्योंकि गोकुल की भावुकता नकली नहीं है। हाँ, वह अर्थहीन है। कृष्ण को अब गोकुल नहीं आना है। गोकुल के जीवन से अब उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। नहीं होगा। मथुरा के कृष्ण के लिए गोकुल बीते दिनों का स्मरण है। स्मरण जीवन नहीं है। वह एक सद्गुण मात्र है। गोकुल निवासियों के लिए कृष्ण-स्मरण पूर्ण जीवन है। उनके पास कृष्ण-स्मरण के अतिरिक्त कोई काम नहीं है। गोकुल का कृष्ण-स्मरण जीवन-पर्याय है। इसी कारण उद्धव गोकुल से प्रभावित होते हैं। कृष्ण द्वारा गोकुल-स्मरण को सुन भर लेते हैं। गोकुल के प्रति प्रेम के कारण ही कृष्ण उद्धव को गोकुल भेजते हैं। उद्धव वृष्णिकुल के मन्त्री और कृष्ण के प्रिय सखा हैं।

राजमन्त्री होने के कारण उद्धव निर्गुणोपासक हैं। निर्गुण और सगुण दोनों ही परमात्मा के स्वरूप हैं। ग्रामीण जन सगुण-सकार और शहरी लोग निर्गुण निराकार में विश्वास करते हैं। यह राजसत्ता का चरित्र-संकेत है। राजसत्ता प्रायः द्वैध चरित्रवाली होती है। इसकी अपेक्षा ग्रामीण जन का आधार ठोस, साकार होता है। गाँव में द्वैध का कोई स्थान नहीं है। इसी से गोकुल की सभी लीलाएँ सगुण की हैं। मथुरा के कृष्ण सब करके भी सबसे अलग हैं। गाँव को निर्गुण स्वीकार नहीं है। गाँव में भी स्त्रियाँ अधिक सगुणवाली हैं। इसी से व्रजवासी निर्गुण की उपेक्षा करते हैं।

गोपियाँ पूछती हैं—निर्गुण कौन देश में रहता है? निर्गुण का देश हो तो वह सगुण हो जाएगा। देश का सम्बन्ध सगुण-साकार से है। निर्गुणोपासक ईश्वर को भीतर खोजता है। निर्गुण के साथ न तो क्रीड़ा हो सकती है, न तो वह रक्षा कर सकता है। सगुण ही क्रीड़ा का आनन्द और रक्षा का सुख देता है।

उद्धव उपदेशक हैं। क्रिया-रहित उपदेश। इस उपदेश का कोई लौकिक कार्य नहीं है। सगुण गाय भी चराता है; चीरहरण भी करता है। राक्षसवध भी करता है। गाँव सामान्य जनों का है। नगर विशिष्ट जनोंवाला है। नगर बोलता है। गाँव करता है।

आज भी देखिए। भोजन, जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है। इस भोजन का उत्पादक गाँव है। नगर उत्पादक नहीं, विनिमय, व्यवस्थावाला है। यहाँ छल चल सकता है। किन्तु छल से उत्पादन सम्भव नहीं है। इसी से मथुरा में गोचारण का कोई स्थान नहीं है। यहाँ गोपाल नहीं, केवल भूपाल हैं। गाँव किसी दूसरे पर निर्भर नहीं है। शहर भोजन छीन सकता है। गाँव सबके भोजन की व्यवस्था करता है। निर्गुण भी सगुण-साकार को माध्यम बनाकर अपनी सत्ता व्यक्त करता है। केवल निर्गुण से किसी सत्ता की सम्भावना नहीं है। गाँव के बिना नगर की सत्ता नहीं है। निर्गुण की पराजय का अर्थ है, ग्राम के मुकाबले नगर की पराजय। कृष्ण की शक्ति का स्रोत गाँव है। गाँव में कृष्ण कभी पराजित नहीं हुए। उत्तरोत्तर उनकी शक्ति बढ़ती गई। उन्होंने इन्द्र की पूजा बन्द करा दी; इन्द्र राजसत्ता थे। कंस आसुरी और इन्द्र देवसत्ता हैं। कृष्ण दोनों सत्ताओं को समाप्त करते हैं। एक को मारकर। एक की पूजा बन्दकर। क्योंकि इन्द्र मात्र भोगी हैं। वे हत्याएँ नहीं करते हैं। पूजा बन्द करना ही इन्द्र की सत्ता समाप्त करना है। इन्द्र कृष्ण को मारने का प्रयत्न भी नहीं करते हैं।

इन्द्र और कृष्ण का द्वन्द्व सत्ता की प्रधानता का द्वन्द्व है। प्रधान कौन है? कृष्ण या इन्द्र? कृष्ण ने अपने को स्थापित किया। व्रज को पूर्णतः गोचारक बनाया। इन्द्र के यहाँ अप्सराएँ प्रेम को प्रधानता देती हैं। गोपियों का भोग गौण हो जाता है। भोग की मुख्यता होती तो गोपियाँ घर से बाहर नहीं आतीं। कृष्ण गोपियों के भोग्य नहीं, उपास्य हैं; इसी से वे संयोग, वियोग दोनों में कृष्णमय हैं। अत्यन्त तन्मयता के कारण गोपियाँ कृष्णस्वरूप हो जाती हैं। कृष्णप्रेम में वे समाज और संसार सबको भूल जाती हैं। अप्सराएँ सबकी हैं। सामान्य हैं। गोपियाँ केवल कृष्ण की हैं। कृष्ण के सगुण रूप थीं। निर्गुण रूप की आराधना को वे व्यभिचार मानती हैं। मथुरा के कृष्ण रणछोड़ बनते हैं। गाँव कभी पराजित नहीं होता है। पराजय राजधानी की होती है।

निर्गुण संसार और सौन्दर्य दोनों का विरोधी है। गोपियाँ और व्रजचन्द्र कृष्ण सौन्दर्यप्रेमी हैं। मोरमुकुट, वनमाला, वंशीवादन, पीताम्बर, नटवर-वेश आदि उनके सौन्दर्य-स्वरूप हैं। चोवा चन्दन लगाते हैं। श्यामसुन्दर खुद सजते हैं। गोपियों को भी सजाते हैं। कर्णफूल पहनाते हैं। रचिपचि के वेनी बाँधते हैं। सुगन्ध लगाकर आभूषण पहनते हैं। निर्गुण में सौन्दर्य का कोई स्थान नहीं है। कृष्ण के अभाव में सौन्दर्य का कोई स्थान नहीं है। सजा और शृंगार भी व्यर्थ हैं।

अगर गोपियाँ दण्ड, कमण्डलु, भस्म, अधारी ले लें तो चन्दन, आभरण, चीर आदि कौन लेगा? सत्ताकेन्द्र मथुरा स्वयं योगशाला नहीं है। वहाँ कुब्जाभोग है। मथुरा व्रज में योग भेज रही है। उद्धव योग का उपदेश मथुरा से हटकर देते हैं। तथाकथित गँवारों को समझाना चाहते हैं। किन्तु गँवारों का ज्ञान पोथी का नहीं, सहज है। अतः दृढ़ है। ऐसा नहीं कि गाँव के लोग मूर्ख होते हैं।

सहजता मूर्खता नहीं है। गोपियाँ तर्क, कटाक्ष, व्यंग्य, वक्रता आदि सभी का प्रयोग करती हैं। योगसाधना का स्थान काशी और ज्ञान की पोथी गीता को बताती हैं।

व्रज के कृष्ण अहीर हैं। मथुरा घोड़ा-हाथीशाला है। केशी घोड़ा है। कुबलयापीड़ हाथी है। ये घोड़े, हाथी, मारने के काम में आते हैं। अतः मारे जाते हैं। व्रज में ऐसा कोई पशु नहीं है। यमुना में एक सर्प अवश्य है। कृष्ण उसे नाथते हैं। भगाते हैं।

सूर-साहित्य में द्वारका एवं कृष्ण की रानियों, पटरानियों का स्थान गौण है। सूर के कृष्ण का मुख्य केन्द्र गोकुल और गोपियाँ हैं। नन्द और यशोदा हैं। सूर का आधार ग्रन्थ 'भागवत' है। यह ग्रन्थ मुख्यतः दशम स्कन्ध के कारण प्रसिद्ध है। दशम स्कन्ध कृष्ण की व्रजलीला का केन्द्र-स्थल है। ज्ञानमूलक निर्गुण भक्तों के यहाँ स्त्री और धाम की अनुपस्थिति है। स्त्री नहीं तो बालक भी नहीं है। सूर की व्रजलीला में व्रजधाम है। राधा, गोपियाँ, यशोदा आदि स्त्रियाँ हैं। कृष्ण, बलराम एवं ग्वाल-बाल की बालक्रीड़ा है। सूर कहीं भी कृष्ण के भागवत स्वरूप को च्युत नहीं होने देते हैं। सभी लीलाएँ भागवत लीला हैं। सूर बार-बार इसे याद दिलाते हैं।

निर्गुण भक्त आँखें बन्दकर अपने भीतर देखता है। शून्य को देखता है। रूप नहीं, अरूप देखता है। सगुणोपासक सूर बन्द आँखों से भी रूप देखते हैं। बाह्य को अन्दर ले जाते हैं। उन्हें सर्वत्र कृष्ण दिखाई देते हैं। कृष्ण के नाना रूप दिखाई देते हैं। उनके हृदय में निराकार कृष्ण हैं। किन्तु वे उन्हें हृदय की अपेक्षा लोक में देखना अधिक पसन्द करते हैं। आँखों की बन्दी के बावजूद वन, नदी, उपवन, गौ, ग्वाल, गोपी, राधा, नन्द, यशोदा आदि को देखते हैं। इन विस्तृत रूपों में कृष्ण को, कृष्ण की प्रेमपरक सुन्दरता को देखते हैं। कृष्ण को लोक में न देखनेवाले अन्धे हो सकते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि में कृष्ण को देखनेवाले केवल नाम के सूर हैं।

यह सूर (सूर्य) सम्पूर्ण सृष्टि को देखता है। दूसरों को भी दिखाता है। रूप दिखाता है। रूप के माध्यम से अरूप का दर्शन कराता है।

एक आश्चर्य और। संसार में सुन्दर भी है। असुन्दर भी है। किन्तु बन्द आँखें केवल सुन्दर देखती हैं। असुन्दर उनका विषय नहीं है। असुन्दर उपेक्ष्य है। असुन्दर देखने के कारण ही संसार मिथ्या दिखाई पड़ता है। तभी संसार निर्गुण बन जाता है। यह सब प्रकार से आँखें मूँदना है। संसार से छुटकारा पाने की सारी प्रार्थनाएँ संसार की असुन्दरताएँ देखने के कारण ही हैं।

बुद्ध ने सब असुन्दर देखा था। तभी उन्हें वैराग्य हुआ था। सूरदास असुन्दर को भी जानते हैं। किन्तु वे असुन्दर की उपेक्षा करते हैं। उनकी बन्द आँखों में भरे सौन्दर्य के कारण असुन्दर टिक नहीं पाता है। कृष्ण के मथुरा आगमन के पूर्व वहाँ सब असुन्दर है। त्याज्य है। अतः मथुरा असुन्दर है। गोकुल सुन्दर है। नगर असुन्दर है। गाँव सुन्दर है। कृष्ण ने असुन्दर को मारा। सुन्दर को देख वंशी बजाई। महारास रचाया। सौन्दर्य भागवत स्वरूप है। कृष्ण अपने भागवत स्वरूप के सौन्दर्य में रमण करते हैं—**आपु-आपु सों खेलै**। भागवत का कथन है—**रेमे रमेशो ब्रजसुन्दरीभिः**। रमेश ने ब्रजसुन्दरियों से रमण किया। असुन्दर में रमण सम्भव नहीं है। इसी से यहाँ सुन्दरी शब्द का प्रयोग है।

यह सौन्दर्य कृष्ण का स्वप्रतिबिम्ब है। आचार्य वल्लभ सौन्दर्य को मधुर कहते हैं। कृष्ण का सब मधुर है—**मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्**। कृष्ण मधुर हैं। कृष्ण का यह जगत् भी मधुर है। सूर्यप्रकाश में सब प्रकाशित है। सूरसाहित्य में सुन्दर प्रकाशित है। सूर की यह सौन्दर्योपासना तम में सत्त्व घोल रही है। गोकुल सत्त्व, मथुरा रज और कंस तमःप्रधान है। द्वारका में रजोगुण बढ़कर तमोगुण में बदल गया। तभी द्वारकावासी आपसी युद्ध में नष्ट हो गए। कृष्ण ने वृन्दाधाम को यथासत्त्व रहने दिया। मथुरा में रजोगुणी उग्रसेन को स्थापित किया। द्वारका के तमोगुणी उद्धत युवकों को नष्ट कर दिया।

गोकुल में गोदुग्ध है। द्वारका में मद्य है। मद्यमत्त यादव कृष्ण को भूल गए। अहंकार से टकराकर नष्ट हो गए। तमोगुणी को कृष्ण बचाने नहीं गए। उलटे मरने-मारने में सहायता की। कृष्ण की रानियाँ चंचल हुई होंगी। तभी आभीरों ने उन्हें लूट लिया। यहाँ अर्जुन का गाण्डीव काम नहीं आया। पहली बार अर्जुन की आँखें पराजय से आर्द्र हुई थीं। महाभारत में भयानक द्वन्द्व है। महाभारत विनाशक द्वन्द्वकाव्य है। भागवत की रचना द्वन्द्वनाश के लिए होती है। सूर ने इस द्वन्द्व को और कम किया। केवल समास। द्वन्द्व समास।

वेदान्त, सी० ३३ / ७८.४

चनुआ छित्तपुर,

वाराणसी-२



	<p>जो सुख होत गोपालहि गाएँ। सो सुख होत न जप-तप कीन्है, कोटिक तिरथ न्हाएँ॥ दिऐ लेत नहिं चार पदारथ, चरन-कमल चित लाएँ॥ तीन लोक तून-सम करि लेखत, नँद-नन्दन उर आएँ॥ बंसीबट, बृन्दाबन, जमुना, तजि बैकुण्ठ न जावै। 'सूरदास' हरि को सुमिरन करि, बहुरि न भव-जल आवै॥</p>	
--	---	--

पाटलिपुत्र के राधावल्लभ-सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा

□ विद्यावाचस्पति डा० श्रीरंजन सूरिदेव

मध्ययुग के वैष्णव सम्प्रदायों में श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय की अपनी महिमा रही है। प्रेमाभक्ति और माधुर्योपासना इस सम्प्रदाय की अपनी विशिष्टता है। इस सम्प्रदाय की प्रेमाभक्ति अतिशय निगूढ़ है। इस भक्ति का ज्ञान वे ही प्राप्त कर सकते हैं, जिनकी अन्तर्भावना पूर्णतया निष्कलुष और मनोवृत्ति पूर्ण परिष्कृत है। आचार्य हितहरिवंश गोस्वामी इस महनीय सम्प्रदाय के आदिप्रवर्तक हैं। इस सम्प्रदाय के उपासकों के लिए श्रीराधा और श्रीराधावल्लभ की अनन्य भक्ति अनिवार्य है। कर्मकाण्डीय विधि-निषेधमूलक बाह्याडम्बर के साथ उपासना करनेवालों के लिए इस सम्प्रदाय की भक्ति-माधुरी कदापि सुलभ नहीं है। यह उसे ही सुलभ हो सकती है, जिसका हृदय निष्प्रपंच और निश्छल है। सचमुच, इस सम्प्रदाय की प्रेमाभक्ति विलक्षण है।

इस प्रेमाभक्ति के सच्चे उपासक वे ही हो सकते हैं, जो रसज्ञ होते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वयं गोस्वामी हितहरिवंशजी रसिकशिरोमणि थे। श्रीराधा उनकी इष्ट थीं, जिनकी उपासना वे गुरुरूप में करते थे। इस भक्तिमार्ग की उपासना के लिए संन्यस्त जीवन आवश्यक नहीं है। वैराग्य भी अपरिहार्य नहीं है। गृहस्थाश्रम के परित्याग की भी अनिवार्यता नहीं है। गृह-जीवन जीते हुए कोई भी गृहस्थ इस भक्तिमार्ग का उपासक हो सकता है। 'नित्य विहार' की दशा में अवस्थित श्रीराधा-कृष्ण की उपासना का विधान इस भक्तिमार्ग में मान्य है।

इस भक्तिमार्ग के उपासक का कर्मयोगी होना ही वरेण्य है। फलासक्ति से रहित निष्काम

कर्म और कर्तृत्वाभिमान से रहित कर्म की उपासना ही कर्मयोग है। गीता में कर्मयोग के उपासक को ही कर्मयोगी कहा गया है। जो राग से निवृत्त है, उसके लिए घर ही तपोवन हो जाता है। इस प्रकार गोस्वामी हितहरिवंश ने समग्र गृहजीवियों के लिए सरल भक्तिमार्ग का निदर्शन उपस्थित किया है, जो न केवल जन के लिए, अपितु जन-जन के लिए सुखद और सुलभ हो गया।

गोस्वामी हितहरिवंशजी के शिष्यों की एक परम्परा ही प्रवर्तित हो गई। गोस्वामीजी स्वयं संस्कृत और ब्रजभाषा के मर्मज्ञ थे। इन्होंने संस्कृत में 'राधासुधानिधि' (पूरा नाम : 'श्रीराधारससुधानिधि') नाम से रस और सौन्दर्यशास्त्र के प्रतिनिधि ग्रन्थ की रचना की। इसमें १७० श्लोक हैं। ब्रजभाषा में भी इन्होंने पदावली की रचना की। इनकी ब्रजभाषा की रचना यद्यपि विस्तृत नहीं है, तथापि सरस और हृदय-ग्राहिणी है। इनके ब्रजभाषा-पदों का संग्रह 'हित-चौरासी' नाम से प्रसिद्ध है। इनके शिष्यों ने भी ब्रजभाषा में ही कई पदावलियों का प्रणयन किया। इनकी शिष्य-परम्परा में व्यासजी, ध्रुवदासजी, हठीजी आदि के नाम इतिहास-प्रसिद्ध हैं।

माधुर्योपासना में सिद्ध गोस्वामी हितहरिवंशजी का श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय सोलहवीं शती से उन्नीसवीं शती तक पुष्पित-पल्लवित होता हुआ अपने प्रचार-प्रसार के क्रम में पाटलिपुत्र की भूमि पर आ प्रतिष्ठित हुआ। गंगातटवर्ती पाटलिपुत्र की भूमि ज्ञान-विज्ञान, दार्शनिक चिन्तन एवं भक्ति और साधना की दृष्टि से अतिशय समृद्ध रही है। इसीलिए यह प्रायः प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय की

महत्त्वपूर्ण केन्द्रस्थली बनी हुई है। इस भूमि पर श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय के अस्तित्व में आने की कालावधि का कोई ऐतिहासिक प्रामाणिक साक्ष्य सुलभ नहीं है।

श्रुति-परम्परा के आधार पर यह कथा प्रचलित है कि सोलहवीं शती में महाराज मान सिंह बिहार-बंगाल-विजय के क्रम में बिहार से गुजर रहे थे, तभी उन्होंने आचार्य महाप्रभु गोस्वामी हितहरिवंशजी की आज्ञा से बंगाल में 'नामसेवा-पीठ' की स्थापना कराई थी, जिसके मुख्य केन्द्र नवद्वीप और मुर्शिदाबाद थे। अनुमान है कि अठारहवीं शती में आचार्य महाप्रभु के वंशजों की नवीं पीढ़ी के आचार्य गोस्वामी श्रीमाखनलालजी पूर्वांचल के अपने भक्तों के आमन्त्रण पर लुभप्राय 'नाम सेवापीठ' के पुनरुज्जीवन के निमित्त पाटलिपुत्र पधारे और भूमि-भवन आदि का क्रय करके अपनी गुरुगद्दी स्थापित की।

अधुना उक्त गुरुगद्दी पटनासिटी के लल्लू बाबू के कूँचे में 'हितहरिवंशवाणी-भवन' के नाम से प्रतिष्ठित है। वर्तमान गुरुगद्दी के अधिष्ठाता आचार्य श्रीगोस्वामी मधुकर लालजी महाराज थे। उनसे प्राप्त तद्विषयक साहित्य और सूचना के अनुसार हितहरिवंशवाणी-भवन में स्थित मन्दिर में श्रीराधा-कृष्ण का युगलस्वरूप विराजमान है। इस मन्दिर को सम्प्रति 'साँवलियाजी का मन्दिर' कहते हैं। श्रीराधा-कृष्ण के इस युगल स्वरूप के प्रतिष्ठाता गोस्वामी माखनलालजी महाराज हैं। गोस्वामीजी नित्य-निरन्तर युगलस्वरूप की पूजा-उपासना में लीन रहकर श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय को जन-जन के बीच प्रतिष्ठित करते रहे।

गोस्वामी माखनलालजी के अनुज गोस्वामी श्रीकृष्णलालजी महाराज भी अपने अग्रज के समान ही प्रेमाभक्ति के अनन्य उपासक थे। इन दोनों माधुर्योपासक भाइयों के साधना-काल में बिहार, बंगाल, उड़ीसा आदि पूर्वोत्तर राज्यों में श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के असंख्य अनुयायी हुए। इन प्रदेशों के अनेक नगर; जैसे- पटना, मधुबनी,

छपरा, मुँगैर, भागलपुर (बिहार); मुर्शिदाबाद, नवद्वीप (बंगाल) और जगन्नाथपुरी (उड़ीसा) में स्थित युगलस्वरूप के मठ-मन्दिर आज भी इस सम्प्रदाय की महिमा और माहात्म्य के स्थापत्य-साक्ष्य के रूप में विद्यमान हैं। देश के तत्कालीन अनेक बादशाह, नवाब और राजे-महाराजे श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के इष्ट तथा माधुरी भक्ति के चमत्कार से प्रभावित और अनुगृहीत रहे हैं। आज इस सम्प्रदाय के अनुयायियों या इनके वंशजों के पास उनको प्राप्त सनद और फरमान प्रामाणिक साक्ष्य के रूप में सुरक्षित हैं।

गोस्वामी हितहरिवंशजी ने श्रीराधा-माधव की प्रेमाभक्ति-साधना और उसके दार्शनिक दृष्टिकोण के जनोपयोगी स्वरूप को जिस मौलिक भावना के साथ सर्वकल्याण के निमित्त श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय की संज्ञा से उपन्यस्त किया, उसी की एक शाखा पाटलिपुत्र की पावन धरती पर आरोपित हुई, जो 'पटना गद्दी' के नाम से आख्यापित हुई। इस गद्दी की आचार्य-परम्परा में तीन नाम अपना ऐतिहासिक मूल्य रखते हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं- गोस्वामी लाडलीलालजी महाराज, गोस्वामी कीरतलालजी महाराज एवं गोस्वामी गोवर्धनलालजी महाराज। गोस्वामी गोवर्धनलालजी का उपनाम 'प्रेमकवि' था और अपनी काव्य-प्रतिभा की उत्तुंगता से ये 'कवि-चूडामणि' उपाधि से विमण्डित थे।

'हिन्दी साहित्य और बिहार' (खण्ड-४) में प्रकाशित 'कवि-चूडामणि' के इतिवृत्त के अनुसार ये मूलतः वृन्दावन-निवासी थे। इनके पिता का नाम गोस्वामी कीरतलालजी महाराज था, जो श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के आचार्य गोस्वामी जतनलालजी महाराज (मंगला आरतीवाले) की छोठी और इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य हितहरिवंशजी महाप्रभु की बारहवीं पीढ़ी के थे। ये शास्त्रपारगामी विद्वानों में पांक्तेय थे। काव्य और संगीत में इनकी प्रतिभा विलक्षण थी। पूर्वोक्त साँवलियाजी के मन्दिर में इन्होंने 'कवि-समाज' की स्थापना की

थी। इनकी कवित्व-शक्ति अपूर्व थी। इन्होंने लगभग एक लाख पदों की रचना की थी। इनके आशुिकवित्व से प्रसन्न होकर विख्यात व्याख्यान-वाचस्पति पं० दीनदयाल शर्मा ने श्री वैष्णव-सम्मेलन की ओर से इन्हें 'कविचूडामणि' की श्रेष्ठ उपाधि से विभूषित किया था। ये सर्वजन-श्रद्धेय परम वैष्णव थे।

कविचूडामणिजी के बाद इनके पुत्र गोस्वामी ब्रजजीवनलालजी महाराज 'पटना गद्दी' के अधिकारी हुए। इन्होंने अपनी पितृपरम्परा से अर्जित प्रतिष्ठा का ततोधिक विस्तार किया। ये बहिरन्तः प्रेमाभक्ति के अनुकूल साधुचरित व्यक्ति थे। सरलता और सद्ब्यवहार इनके सद्गुणों में प्रमुख थे। इनकी विद्वत्ता जितनी बड़ी थी, भद्रता उतनी ही ऊँची थी। निश्चय ही ये अपने योग्यतम पिता के योग्यतम पुत्र थे।

जैसा पहले कहा गया कि 'पटना गद्दी' के वर्तमान अधिष्ठाता आचार्यश्री गोस्वामी मधुकरलालजी थे। इन्होंने श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय का सर्वतोभद्र विकास और संवर्धन किया। इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। ये अपने पितामह और पिता के अनुरूप वैदुष्य के धनी व्यक्ति थे। साहित्य, संगीत और कला के मर्मज्ञ पुरुष के रूप में ये सर्वत्र पूजित थे। इन्होंने 'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' इस सूक्ति को सार्थक किया था। श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के तत्त्वों की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्तर पर व्याख्या-विवेचना के शास्त्रदीक्षित अधिकारी विद्वानों में इनकी गणना होती थी। इनके विचार कई आलेखों और पुस्तकों के रूप में अक्षरित हुए हैं। इन्होंने वैष्णव मत में श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय की भक्ति भावना पर जो तात्त्विक चिन्तन किया है, उसका सार है कि भगवान् श्रीकृष्ण प्रेमस्वरूप हैं, जिनकी प्रेम-स्वरूपता, गोस्वामी हितहरिवंशजी के अनुसार, रसदृष्टि पर प्रतिष्ठित है। तत्त्वतः, प्रेम की भगवत्स्वरूप से अभिन्नता है। प्रेम रस-रूप (रसो वै सः) है। रस और प्रेम में अभेदभाव है। इसलिए प्रेम की सच्ची उपासना प्रेमस्वरूप बनकर ही की जा सकती है।

इसी सन्दर्भ को और स्पष्ट करते हुए गोस्वामी मधुकरलालजी ने लिखा है कि श्रीकृष्ण की आराध्या श्रीराधा ही इष्ट रूप में आराधनीया हैं। इसलिए श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए श्रीकृष्ण की पट्टमहिषी श्रीराधा ही आराध्या और सेव्या हैं। इस सन्दर्भ में विद्वान् चिन्तक ने 'राधासुधानिधि' का एक शार्दूलविक्रीडित छन्द में निबद्ध ललित श्लोक उद्धृत किया है, जो विषय के तत्त्वाधिगम की दृष्टि से मननीय है। श्लोक इस प्रकार है—

प्रेम्णाःसन्मधुरोज्ज्वलस्य हृदयं शृंगारलीलाकला

वैचिती परमावधिर्भगवतः पूज्यैव कापीशता।

ईशानी च शची महासुखतनुः शक्तिः स्वतन्त्रा परा

श्रीवृन्दावननाथपट्टमहिषी राधैव सेव्या मम।।

अर्थात् जो मधुर और उज्ज्वल प्रेम की प्राणस्वरूपा, शृंगारलीला और कला की परावधि, श्रीकृष्ण की परमाराध्य तथा अनिर्वचनीया शासनकर्त्री हैं, जो ईश्वर-रूप श्रीकृष्ण की इन्द्राणी और पार्वती-जैसी महासुखमय शरीर-धारिणी शक्ति-स्वरूपा, परा और स्वतन्त्रा हैं; वृन्दावननाथ श्रीकृष्ण की पट्टमहिषी वे श्रीराधा ही मेरी सेव्या या आराध्या हैं।

श्रीकृष्ण से आराधित श्रीराधा श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति हैं। प्रेम के प्रकाशपुंज-स्वरूपा श्रीराधा ही भगवान् श्रीकृष्ण की आत्मा हैं। इसीलिए दोनों में अभिन्नता है। इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार शिव और शक्ति में अभिन्नता है, उसी प्रकार राधा और कृष्ण में एकमेकता है और यही राधा-कृष्ण का युगलस्वरूप श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के उपासकों के लिए उपास्य है।

राधा-तत्त्व के परमार्थ के ज्ञाता आचार्य मधुकरलाल गोस्वामीजी की ललित लेखनी स्पष्ट चिन्तन और स्पष्ट शैली की दृष्टि से श्लाघनीय है। वैष्णव-सम्प्रदाय की गरिमा की वृद्धि और समृद्धि के लिए आचार्योचित जिन गुणों की अपेक्षा होती है, वे सारे सद्गुण आचार्य मधुकरलालजी में निहित

थे। इनमें एक साथ वाग्मि, कवित्व और गमकत्व-गुण विद्यमान थे। गमकत्व-गुण का अर्थ है बोधकता। इनमें जितनी वाक्पटुता थी, उतनी ही कवित्व-प्रतिभा भी थी और उतनी ही बोधकशक्ति भी। इनकी प्रज्ञा-वैखरी मुखर होकर जिज्ञासुओं को प्रबोधित करती थी। इसीलिए इनके प्रशंसक शिष्यों की परम्परा राष्ट्रव्यापी है।

आचार्य मधुकरलालजी का व्यक्तित्व और कृतित्व वल्लभाचार्य की परम्परा के पोषक महाप्रभु हितहरिवंशजी के संस्कारों से बहिरन्तः अनुप्राणित थे। इसके अतिरिक्त, वल्लभ-सम्प्रदाय की उपासना

और सेवापद्धति के उपयुक्त भोग, राग और लीलाविहार के आयोजन भी पूरी निष्ठा से करते थे। 'पटना गद्दी' के भक्त शिष्यों के लिए इन्होंने अपने सुन्दर पदों द्वारा जो मनोहर प्रेमसंगीत की धारा बहाई है, उसने भवताप से म्लान भक्तों का जीवन निश्चय ही रसमय और प्रेमोज्ज्वल किया है। इस दृष्टि से वर्तमान पटना गद्दी का ऐतिहासिक महत्त्व है।

पी० एन० सिन्हा कालोनी,
भिखना पहाड़ी,
पटना-६



श्रीनारायण-कृत राधास्तोत्र

नमस्ते परमेशानि रासमण्डलवासिनि। रासेश्वरि नमस्तेऽस्तु कृष्णप्राणाधिकप्रिये।।

हे परमेश्वरी! हे रासमण्डल में वास करनेवाली! हे रासेश्वरी! हे भगवान् कृष्ण की प्राणाधिक प्रिये! आपको नमस्कार है।

नमस्त्रैलोक्यजननि प्रसीद करुणार्णवे! ब्रह्मविष्णवादिभिर्देवैर्वन्द्यमानपदाम्बुजे।।

जिनके चरणकमलों की वन्दना ब्रह्मा, विष्णु आदि देव करते हैं, ऐसी हे तीनों लोकों की माता! हे करुणासिन्धो! आपको नमस्कार है। आप प्रसन्न हों।

नमःसरस्वतीरूपे नमः सावित्रि शंकरि। गंगापद्मावतीरूपे षष्टि मंगलचण्डिके।।

हे सरस्वती-रूपधारिणी! हे सावित्री! हे पार्वती! आपको नमस्कार है। हे गंगे! हे लक्ष्मी! हे षष्ठीदेवी! हे मंगले! हे चण्डिके! आपको नमस्कार है।

नमस्ते तुलसीरूपे नमो लक्ष्मीस्वरूपिणि। नमो दुर्गे भगवति नमस्ते सर्वरूपिणि।।

हे तुलसी-रूपिणी! हे लक्ष्मी-रूपिणी! आपको नमस्कार है। हे दुर्गे! हे भगवती! हे सर्वरूपिणी! आपको नमस्कार है।

मूलप्रकृतिरूपां त्वां भजामः करुणार्णवाम्। संसारसागरादस्मानुद्धराम्ब दयां कुरु।।

हे मूलप्रकृतिरूपे! आप करुणासागर का हम भजन करते हैं। हे माँ! दया कीजिए। इस संसार-सागर से हमारा उद्धार करें।

इदं स्तोत्रं त्रिसन्ध्यं यः पठेद् राधां स्मरन्नरः। न तस्य दुर्लभं किञ्चित्कदाचिच्च भविष्यति।।

प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल में जो मनुष्य श्रीराधा का स्मरण करते हुए इस स्तोत्र का पाठ करता है, उसके लिए कहीं कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता है।

देहान्ते च वसेन्नित्यं गोलोके रासमण्डले। इदं रहस्यं परमं न चाख्येयं तु कस्यचित्।।

वह मृत्यु के पश्चात् गोलोक के रासमण्डल में सदा निवास करता है। इस परम रहस्य को किसी को नहीं बताना चाहिए।

वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः

□ प्रो० रामाश्रय प्रसाद सिंह

आज का मानव अतृप्त वासना की अग्नि में जल रहा है। वह उथले जल में निवास को ही जीवन का सच्चा सुख मान रहा है; संकीर्णता-संकुचितता की सीमित खाई में पड़े रहने को ही अपने जीवन का सही लक्ष्य मान रहा है। नफरत, घृणा, द्वेष तथा स्पर्धा की तंग एवं बदबूदार नालियों में तड़पता हुआ भी उनसे निकलने का सही प्रयास नहीं कर रहा है।

सच तो यह है कि वह स्वयं निर्मित विपत्तियों के महाजाल में दिन-प्रतिदिन फँसता चला जा रहा है। आपत्तियों के इस भयंकर जाल से त्राण पाने का मार्ग उसे नहीं सूझ रहा है। इन्द्रियों को सन्तृप्त करने के मोह में पड़ा आज का मानव जीवन के सच्चे गन्तव्य से च्युत होकर भटक गया है और जीवन भर अन्तहीन दुःखों को भोगता रहता है। वह ज्यों-ज्यों इन्द्रियों की तृप्ति के साधन जुटाता चलता है, उसकी छटपटाहट और बेचैनी बढ़ती ही चली जाती है। भोगों की अथोर एवं अपार सामग्री के बीच बैठा आज का मानव अत्यन्त अशान्त है।

अतिशय भोग की अतृप्त लालसा आज के मानव को हैवान बना रही है। आज के मानव के मन का आँगन अतृप्ति और अवसाद के विषैले धुएँ से भरता जा रहा है और चित्तविश्रान्ति तथा मनःशान्ति के लिए वह जीवन भर दर-दर भटकता हुआ अन्त में इस संसार से चला जाता है। नाना प्रलोभनों के पीछे पागल की भाँति दौड़ता हुआ आज का आदमी तृप्ति की राह की तलाश में गलत दिशा का धावक बन गया है।

स्वार्थ की संकीर्ण एवं संकुचित सीमा में आबद्ध आज का मानव बीमार हो गया है। यदि कहा जाए कि आधुनिक मानव आत्मनाश के कगार पर खड़ा होकर अपना अन्तिम दिन निकट देख रहा है तो यह अत्युक्ति न होगी। सन्नास, घुटन, उच्च रक्तचाप, तनाव तथा अन्तहीन संघर्षों से आवृत तथा नाना प्रकार की कुण्ठाओं से आक्रान्त मनुष्य मानस रोग का शिकार होकर अनेक असाध्य रोगों से ग्रसित है। इससे त्राण का उपाय क्या है, यही इस आलेख में दिखाने का एक छोटा प्रयास किया जा रहा है।

हमारे शास्त्रों में चित्त-विश्रान्ति एवं मनःशान्ति के अनेक उपाय बताए गए हैं। हमारे शास्त्रों एवं समस्त भारतीय वाङ्मय का एकान्त उद्देश्य है आनन्द की प्राप्ति और चित्त की विश्रान्ति, मन की शान्ति। आइए श्रीमद्भागवत महापुराण के आलोक में हम जीवन के सही गन्तव्य और सच्चे लक्ष्य को जानने का प्रयास करें।

विपुल भौतिक सम्पदाओं को पाकर भी तथा अपार भोग-सामग्री के बीच बैठकर भी आज का व्यक्ति विरूप, विकलांग और बौना बना हुआ है। कठोपनिषद् में इसीलिए हमारे ऋषि ने बहुत पहले नचिकेता के माध्यम से कहा था— 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।' मात्र धन-सम्पत्ति से मानव तृप्त नहीं हो सकता। इसी को बृहदारण्यकोपनिषद् में दूसरे ढंग से कहा गया है— 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति'— (२.४.२) धन-धान्य से अमरता पाने की आशा नहीं की जा सकती।

महर्षि याज्ञवल्क्य के इस कथन के पश्चात् मैत्रेयी ने उत्तर दिया— ‘येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्या’— बृहदा० उप० : २.४.३— (बृहदारण्यक : २.४.३) जिससे मैं अमर न हो सकूँ, उस धन को लेकर मैं क्या करूँगी! भगवन्! अमर होने का जो रहस्य आप जानते हैं, मुझे तो उसी का उपदेश दीजिए— ‘यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति’— (बृहदारण्यक : २.४.३)

अतिशय एवं अनियन्त्रित भोगों से बचें : हमारे ऋषियों, मुनियों और विपश्चित् विप्रों ने अपने अनुभवों के आधार पर बताया है कि मानव को अतिशय भोगों से बचना चाहिए। अनियन्त्रित भोग मानव को अपना दास बना लेता है। धन-संग्रह तथा अतिशय भोग-सामग्री हेतु मानव को नाना प्रकार के गलत मार्ग अपनाने पड़ते हैं। भोग की कोई सीमा नहीं होती। भोग की भूख रामायण के स्त्री-पात्र सुरसा के मुख के समान फैलती जाती है और वह तृप्त होने का नाम ही नहीं लेती। भोग की इस अतिशय भूख की शान्ति के लिए, उसकी परितृप्ति के लिए अधिक-से-अधिक धन की आवश्यकता होती है।

भोग और धन का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। भोगी अहर्निश भोग की ही चिन्ता में पड़ा रहता है। इसके लिए उसे अपार और अकूत धन की आवश्यकता होती है। अँगरेजी के तीन शब्दों का प्रयोग करें तो वे होंगे Pleasure, property and power. इन तीनों का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये रावण, कुम्भकर्ण तथा मेघनाद की तरह हैं; दुर्योधन, दुःशासन और शकुनि के समान हैं। व्यक्ति की इच्छा अपनी पूर्ति चाहती है, सन्तुष्टि चाहती है और इस तृप्ति-सन्तुष्टि के लिए अन्तहीन भोग-सामग्री एवं अपार धन-सम्पत्ति चाहिए। धन कमाने की भी एक सीमा होती है। अतएव भोगी धन कमाने के लिए नीति और धर्ममार्ग का त्याग कर अनीति तथा

अधर्म के कुमार्गों को अपनाता चलता है। परिणाम होता है कि वह हिंसा, लूट, उग्रवाद, आतंकवाद के मार्गों पर चलने लगता है। आज पश्चिम की भाँति अपने राष्ट्र में भी हिंसा, लूट, छीना-झपटी, बैंकलूट, ट्रेनलूट, बसलूट की फरमार हो गई है। बुद्धिहीन, विवेकहीन हो गया है आज का मानव।

अनियन्त्रित भोग-स्पृहा, धनलिप्सा और सत्ता-लोलुपता मानव को पशु एवं दानव से भी अधिक निकृष्ट और बर्बर बना देती हैं। इलीलिए हमारे पूर्वज पूज्य पुरुषों एवं सन्त-महात्माओं तथा ऋषि-मुनियों ने आन्तरिक शुचिता तथा मानसिक पवित्रता पर सबसे अधिक बल दिया है। धन से हमें घृणा नहीं थी। मैं भी नहीं कहता कि धन नहीं कमाना चाहिए। धन अवश्य अर्जित करना चाहिए, पर वह नीति और धर्म तथा श्रम से उपार्जित हो।

प्राचीन भारत में, ऋषि-संस्कृति में धन से घृणा नहीं थी, पर धनसंग्रह एवं अपार भोगसामग्री-संचय से परहेज था। नीतिपूर्ण मार्ग से धन कमाना, संयमित भोग करना, सरल-सात्विक जीवन जीना, सुमार्ग पर चलना और अतिरिक्त धन का वितरण करते रहना हमारे धर्ममय जीवन का लक्ष्य था। विवेक के जागृत होने पर ही धन एवं भोगसामग्री की सार्थकता सिद्ध होती है। इलीलिए हमारे सन्त-महात्मा श्रद्धा, सेवा एवं सन्तोष को जीवन में अधिक महत्त्व देते थे। वे बराबर मन पर नियन्त्रण रखने की बात कहते थे और उच्छृंखलता, असन्तोष, असंयम से बचने का सन्देश देते रहते थे।

ध्यान रहे, अतिशय लोभ, मोह, अनियन्त्रित भोग तथा अतिशय धन-संग्रह की लिप्सा के भाव हमारे अन्दर के ‘मानुष भाव’ को समाप्त कर देते हैं; हमारी बुद्धि को कुण्ठित कर देते हैं और हमारी संवेदनशीलता, दया, करुणा, सहानुभूति तथा संयम

के भाव दब जाते हैं। हमारे भीतर का पशुत्व उभर कर सामने आ जाता है। हम हिंस्र पशु तथा दुर्दान्त दानव से भी अधिक खूँखार बनकर मानवता का हनन करने लगते हैं, हिंसक, घातक और अधर्मी बन जाते हैं।

अतएव व्यक्ति को चाहिए कि अपनी इच्छाओं, तृष्णाओं और लालसाओं पर धर्म, नीति और शास्त्र का नियन्त्रण रखें। यदि नीति, धर्म, अध्यात्म आदि का नियन्त्रण इच्छाओं पर नहीं हुआ तब इच्छाएँ घातक बन जाती हैं। मनुष्य की इच्छाएँ और आवश्यकताएँ अनन्त तथा असीम हैं। अँगरेजी में भी कहा जाता है— 'Human wants are unlimited.'

भोगों की भूख असीम एवं अनन्त है। एक इच्छा की पूर्ति हुई नहीं कि दूसरी इच्छा शुरू हो जाती है। एक इच्छा दूसरी इच्छा को जन्म दे देती है। हर इच्छा तृप्ति का पीछा करती रहती है। इसी प्रकार हर तृप्ति इच्छा का पीछा करती है। यह क्रम जीवन भर लगातार बना रहता है। इच्छा और तृप्ति के इस भयंकर द्वन्द्व में फँसा संसारी मनुष्य अन्त में ग्रीष्म की प्रचण्ड लू में जल का आभास पाकर बेतहाशा दौड़ते हुए मृग की भाँति दम तोड़ देता है। उसका अनमोल जीवन व्यर्थ में बीत जाता है।

भोग के पीछे की मानव की यह पागल दौड़ उसे दानव बना देती है, हिंस्र पशु बना देती है।

रावण का उदाहरण हमारे सामने है। आज तो हमारे समाज में असंख्य रावण अपने कुकर्मों से समाज और देश को तबाह और बर्बाद कर रहे हैं। रावण भोग के लिए पागल होकर सारे संसार पर आक्रमण करता रहता। उसकी एक विजय दूसरी विजय के लिए प्रेरित करती। भोग की, विजय की उसकी भूख निरन्तर जारी रही। पिछले जन्म का प्रतापी राजा प्रताप भानु रावण बन जाता है और एक लाभ दूसरे लाभ के लिए प्रेरित करता रहता

है। लाभ लोभ का जनक है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

“सुख सम्पति सुत सेन सहाई।
जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई।।
नित नूतन सब बाढ़त जाई।
जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।।”

(मानस : १.१८०.१)

अन्त में विजय और भोग की उसकी अनियन्त्रित भूख और तृष्णा ने सकुल उसका विनाश कर दिया—

“राम बिमुख अस हाल तुम्हारा।
रहा न कोउ कुल रोवनिहारा।।”

(मानस : ७.१०३.५)

हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों, सन्त-महात्माओं तथा कवियों-विप्रों ने इसी अनियन्त्रित, अनियमित और उच्छंखल भोग तथा उसकी भूख पर नियन्त्रण पाने के लिए धर्ममय, नीतिमय, अध्यात्ममय तथा विवेकमय जीवन जीने के लिए शास्त्रों के माध्यम से सीख दी है। वेदों-उपनिषदों से लेकर पुराणों, इतिहासों, स्मृतियों, महाभारत, रामायण तक अनेक कथाओं और उपकथाओं के माध्यम से ऋषियों ने हमें यह बताया है कि भोग की भूख कभी शान्त नहीं होती। किसी भी साधन से वह तृप्त होने का नाम नहीं लेती। भोग की अतिशय भूख और हमारी अनियन्त्रित इच्छाएँ हमारी इन्द्रियों को शिथिल बना देती हैं, उन्हें निष्क्रिय बना देती हैं, हमारे अन्दर मानसिक शिथिलता उत्पन्न कर देती है, हमें विवेकभ्रष्ट बना देती हैं और अन्त में हमें व्यर्थता की दुनिया में पटक देती हैं। हमारा यह दिव्य जीवन एक बोझ बन जाता है, हम धरती के वक्ष पर भार बन जाते हैं। सुप्रसिद्ध पश्चिमी दार्शनिक शोपेन हावर ने अपनी पुस्तक 'The world as will and Idea' में लिखा है—“Almost all men who are secure from want

and earn, now that at last they have thrown off all other burdens, become a leurdn to themselves. Page 139”

ययाति के जीवन से शिक्षा लें : पराशर-पुत्र महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासरचित ‘श्रीमद्भागवत’ महापुराण में राजा ययाति की एक कथा आती है। जीवन भर वे अनियन्त्रित भोग करते रहे, पर उनका मन भोग से विरत नहीं हुआ। राजा थे ही, भोग-सामग्री की कोई कमी नहीं थी। उनकी दो पत्नियाँ थीं— देवयानी और शर्मिष्ठा। देवयानी दानवगुरु शुक्राचार्य की पुत्री थी। इससे ययाति के दो पुत्र हुए— यदु और तुर्वसु। शर्मिष्ठा वृषपर्वा की पुत्री थी। इससे ययाति के तीन पुत्र हुए— डुह्यु, अनु और पुरु। इस प्रकार पाँच पुत्रों में सबसे ज्येष्ठ थे यदु और सबसे छोटे थे पुरु। बुढ़ापा आने पर भी ययाति के मन में विराग नहीं आया। विषय-वासनाओं की भूख इतनी प्रबल होती है कि बुढ़ापा में भी मन विरक्त नहीं होता। मनु के साथ भी यही घटना घटी। गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है—

होई न विषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।

हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरि-भगति बिनु॥

(मानस : १.१४२)

किन्तु मनु सचेत हो गए और अपना राज-पाट पुत्र को देकर पत्नी के साथ नैमिषारण्य में गोमती नदी के किनारे तप हेतु चले गए। पर ययाति की तृष्णा नहीं मिटी। भोग की भूख सताती रही उन्होंने अपने छोटे पुत्र पुरु से उसकी जवानी माँगी और बहुत समय तक भोग करते रहे। फिर बुढ़ापा आया। इन्द्रियाँ शिथिल हुईं। तब उन्हें बोध हुआ कि भोग से भोग की वृत्ति का शमन नहीं होता।

श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में उनकी यह कथा है। ययाति ने भोगों की सीमा पार कर जो अनुभव प्राप्त किया और जो सन्देश दिया, वही

आज के मानव को अपने जीवन में अपनाना होगा, तभी वह अशान्ति एवं अतृप्ति से त्राण पा सकता है। ययाति ने अपना अनुभव बताते हुए कहा है—

“न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।

हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते॥”

(भागवत : ६.१६.१४)

विषयों का उपभोग करते रहने से काम-वासना कभी तृप्त नहीं होती, बल्कि और भी बढ़ती ही जाती है। जैसे अग्नि में घी की आहुति देने से आग और बढ़ जाती है, वैसे ही वासना की पूर्ति होने से वासना और बढ़ जाती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि भोगों पर नियन्त्रण आवश्यक है। अनियन्त्रित भोग जीवन को विषाक्त बना देता है। ययाति ने अपना अनुभव बताते हुए कहा कि पृथ्वी में जितने भी धान्य (चावल, जौ, गेहूँ आदि), सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं— ये सबके सब मिलकर भी उस पुरुष के मन को सन्तुष्ट नहीं कर सकते, जो कामनाओं के प्रहार से जर्जर हो रहा है—

“यत् पृथिव्यां त्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।

न दुह्यन्ति मनः प्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥”

(भागवत : ६.१६.१३)

ययाति को माध्यम बनाकर परदुःख-कातर करुणहृदय महर्षि व्यासजी बताते हैं कि विषयों की तृष्णा ही दुःखों का उद्गम स्थान है। मन्दबुद्धि लोग बड़ी कठिनाई से उसका त्याग कर सकते हैं। शरीर बूढ़ा हो जाता है, पर तृष्णा नित्य नवीन ही होती जाती है। विषयमद ऐसा भयंकर होता है कि वह मानव को विवेकहीन बना देता है। स्त्री, धन, राज्य, सत्ता आदि सब विषय ही हैं। मद का अर्थ ही होता है— ‘माद्यति अनेन इत मदः’, जिसके सेवन से कर्तव्याकर्तव्य विवेक, हिताहित विवेक आदि सब प्रकार का विवेक नष्ट हो जाता है। यह विषय जब अनियन्त्रित हो जाता है, तब नर को

कौन कहे, मुनि और देवता तक सभी मोहित हो जाते हैं। गोस्वामीजी ने लिखा है—

“विषय कुपथ्य पाई अंकुरे।
मुनिहु हृदयँ का नर बापुरे।।”

(मानस : ७.१२२.२)

सचमुच इस विषयमद के वश में मनुष्य से लेकर देवजाति तक सभी हैं— ‘विषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी’ (मानस : ४.२०.२) अतः जो अपना कल्याण चाहता है, उसे शीघ्र-से-शीघ्र इस अतिशय और अनियन्त्रित भोग-वासना एवं तृष्णा का त्याग कर देना चाहिए। श्रीमद्भागवत में ही कहा गया है—

“या दुस्त्यजादुमतिभिर्जीर्यते न जीर्यते।
तां तृष्णां दुःख निवहां शर्मकामो दुतंत्यजेत्।।”

(भागवत : ६.१६.१६)

ययाति अपना अनुभव बताते हुए यहाँ तक कह देते हैं कि अपनी माँ, बहन और कन्या के साथ भी अकेले एक आसन पर सटकर नहीं बैठना चाहिए। इन्द्रियाँ इतनी बलवती हैं कि वे बड़े-बड़े विद्वानों को भी विचलित कर देती हैं—

“मात्रा स्वप्ना दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वान्समपि कर्षति।।”

(भागवत : ६.१६.१७)

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह दिव्य नर-तन मात्र भोग और भौतिक सुख-भोगों के लिए नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास की मान्यता तो यह है कि स्वर्गिक सुखभोग की आकांक्षा भी इस जीवन का उद्देश्य नहीं है। उन्होंने मानस के उत्तरकाण्ड में भगवान् श्रीराम के श्रीमुख से ही कहलवाया है—

“एहि तन कर भल विषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई।।
नर तनुपाईविष्यं मन देहीं।
पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।।
ताहि कबहूँ भल कहइ न कोई।
गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई।।”

(मानस : ७.४३.१-२)

ऋषभदेव एवं भर्तृहरि का सन्देश : श्रीमद्भागवत में ही ऋषभदेव का अपने पुत्रों के लिए एक बड़ा ही उपयोगी उपदेश मिलता है। इनके उपदेश के माध्यम से सन्तशिरोमणि व्यासदेवजी ने धरती के मानवों के लिए बहुमूल्य सन्देश दिया है। ऋषभदेव का चरित श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध में है। ऋषभ का अर्थ भी बड़ा साभिप्राय है— जिसकी शोभा अपने ज्ञान से हो, उसी को ऋषभ कहते हैं— ‘ऋषेण ज्ञानेन भाति इति ऋषभः।’ ऋषभदेवजी ने अपने छोटे-छोटे बच्चों को प्रजा के समक्ष उपदेश दिया— पुत्रो! इस मर्त्यलोक में यह मनुष्य-शरीर दुःखमय विषय-भोग प्राप्त करने के लिए नहीं है। ये भोग तो विष्ठाभोजी शूकर-कुक्कुर आदि तथा गुबरैलों को भी मिलते ही हैं। इस शरीर से तो दिव्य तप ही करना चाहिए, जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो; क्योंकि इसीसे अनन्त ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। ऋषभदेव का उपदेश देखें—

“नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान् कामानर्हतेविड्भुजां।
तपो दिव्यं पुत्रकायेन सत्त्वं
शुद्ध्येद् यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्।।”

(भागवत : ५.५.१)

ऋषभदेव का यह उपदेश मानव-जीवन के लक्ष्य को बड़ी स्पष्टता से व्यक्त करता है। इनके माध्यम से महर्षि कहना चाहते हैं कि यह नर-तन दिव्य तप के लिए है, भोग-वासना के लिए नहीं। इस दिव्य मानव-जीवन को पाकर भी यदि मनुष्य विषयभोगों में ही रमता रहा, अपनी इन्द्रियों की भूख की तृप्ति के लिए ही दर-दर भटकता रहा तो इस दिव्य नर-तन की क्या सार्थकता है? मानव की अद्वितीय योनि को पाकर भी हमने अपने मन-सहित इन्द्रियों को संयमित नहीं किया; विषयभोगों को मर्यादित नहीं किया तो इस दुर्लभ नर-तन को प्राप्त

कर कौन-सा लाभ हासिल किया? ध्यान रहे, मनुष्य के जीवन में यदि संयम नहीं, नियन्त्रण नहीं, मर्यादा नहीं, बुद्धि पर विवेक का अंकुश नहीं तो हमारा यह जीवन व्यर्थ है; पशु और राक्षस तथा दानव से भी निकृष्ट है। अतः हमें अनियन्त्रित और उच्छृंखल भोगों से सदा सावधान रहना चाहिए। हमें अपने मन को अमल और अचल बनाना है; सुसंस्कृत एवं परिष्कृत बनाना है, ताकि उसमें परमात्मा का प्रेम निवास कर सके। गोस्वामीजी ने धर्मरथ-वर्णन के प्रसंग में कितना सच कहा है—

“अमल अचल मन त्रोन समाना ।
सम जम नियम सिलीमुख नाना ।।
कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा ।
एहि सम बिजय उपाय न दूजा ।।”

(मानस : ६.८०.५)

भर्तृहरि के चरित्र से भी हमें इस दिशा में शिक्षा लेनी चाहिए। राजा भर्तृहरि पण्डित और ज्ञानी थे। इन्होंने भी अपने जीवन में भोग-वासनाओं से ठोकर खाई और अन्त में इन्हें वैराग्य हुआ। इन्होंने तीन बहुमूल्य पुस्तकें लिखी हैं— शृंगारशतक, नीतिशतक और वैराग्यशतक। इन्होंने अपने जीवन का अनुभव बताते हुए कहा है कि तृष्णा (भोग-वासना की चाह) कभी बूढ़ी नहीं होती—

“भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः
तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव याताः
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ।।”

(वैराग्यशतक : १२)

भर्तृहरि बताते हैं कि हम विषयों को न भोग सके, विषयों ने ही हमारा भोग किया; हम तप नहीं कर सके, तप ने ही हमें तपा लिया; काल व्यतीत नहीं हुआ, हम ही व्यतीत हो गए; तृष्णा समाप्त नहीं हुई, हम ही समाप्त हो गए। इसलिए मानव को

अनियन्त्रित भोग-वासना से, तृष्णा से, विषयों की अधिक चाह से बचते रहना चाहिए। चाह और कामनाएँ ही अशान्ति की जड़ हैं। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से हमें यही सीख दी है कि कामनाओं के त्याग से ही सच्ची शान्ति प्राप्त होती है—

“विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।”

(गीता : २.७१)

महात्मा कबीरदासजी ने अपनी एक साखी में कहा है कि तृष्णा को मुँह न लगाइए। मुँह लगाने से ही वह हाथ धोकर पीछे पड़ी रहती है—

“कबिरा तृस्ना पापिनी तासों प्रीति न जोरि ।
पैड़ पैड़ पाछे परे लागै मोटि खोरि ।।”

संसार के सब युगों के सन्तों, महात्माओं, दार्शनिकों तथा महापुरुषों ने समय-समय पर उपदेश दिया है कि मानव की अशान्ति और अतृप्ति का एकमात्र कारण विषयभोगों की अतिशय चाह है, तृष्णा है। महात्मा बुद्धदेव का एक कथन है— “घास से खेत का नाश होता है, तृष्णा से मनुष्य का नाश होता है। जिसकी तृष्णा नष्ट हो गई है, उसे दान से अधिक फल मिलता है।” जगद्गुरु आदि शंकराचार्यजी ने अपनी प्रश्नोत्तरमाला में लिखा है— बन्धन में कौन है? विषयी। विमुक्ति क्या है? विषयों का त्याग। नरक क्या है? अपना यह शरीर। स्वर्ग क्या है? तृष्णा का नाश—

“बद्धो हि को वा विषयानुरागी
को वा विमुक्तिः विषये विरक्तिः ।
को वा वास्ति घोरो नरकः स्वदेहः
तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति ।।”

सचमुच मानव की अशान्ति एवं दुःखों का एकमात्र कारण विषयों की हमारी अतिशय चाह ही है। यह चाह, यह तृष्णा, वासना की यह भूख कभी

शान्त होना नहीं चाहती। आयु क्षीण हो जाती है, शरीर जर्जर हो जाता है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, पर उनकी भूख मिटने का नाम नहीं लेती। संस्कृत में एक श्लोक मिलता है—

“जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जार्यतः।

जीर्यतः चक्षुषी श्रोत्रे तृष्णैका तरुणायते।।”

जीर्ण होने से बाल जीर्ण हो जाते हैं, वार्धक्य आने से दाँत भी जीर्ण हो जाते हैं। जीर्ण होने से आँख और कान भी जीर्ण एवं अशक्त हो जाते हैं। पर एक तृष्णा है, जो जीर्ण नहीं होती। वह निरन्तर जवान ही रहती है।

भोगवादी-भौतिकवादी सभ्यता के उत्तुंग शिखर पर आरूढ़ आज का मानव जितना दुःखी, अशान्त और अतृप्त है, उतना वह इतिहास के किसी भी युग में नहीं रहा है। भोगों के नित नए साधन जुटते जा रहे हैं, पर मानव तृप्त होने का नाम ही नहीं लेता। इन्द्रियों को नए-नए स्वादों का चस्का लग गया है। अग्नि में घी के समान तृष्णा की आग बढ़ती ही जा रही है। गोस्वामी जी के शब्दों में—

“बूझै न काम-अग्नि तुलसी कहूँ, विषय भोग बहु घी ते।।”

(विनयपत्रिका : १६८)

सचमुच इस संसार में आशा और तृष्णा के समान दुःखदायी तथा मनुष्य को बन्धन में डालनेवाली और इहलोक तथा परलोक दोनों को बिगाड़नेवाली दूसरी कोई चीज नहीं है। ‘वैराग्यशतक’ के एक श्लोक में भर्तृहरिजी ने आशा नाम की एक नदी का रूपक बाँधकर उसमें डूबनेवालों का एक बड़ा ही भयानक चित्र खींचा है। इस तृष्णा-तरंगकुला आशा नामक नदी को पार करना बड़ा कठिन है। कुछ योगी ही इस नदी को प्रसन्नता से पार करते हैं। पूरा रूपक देखें—

“आशा नाम नदी मनोरथजला, तृष्णातरंगकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।

मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी।

तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः।।”

(वैराग्यशतक : ४५)

आशा एक नदी के समान है। इसमें मनोरथ का जल भरा हुआ है। तृष्णा ही इस नदी की लहरें हैं। राग इसमें निवास करनेवाला ग्राह है। वितर्क इसमें विहार करनेवाला पक्षी है। मोह भँवर है। चिन्ता ही नदी के बड़े ऊँचे किनारे हैं, जो मानव के धैर्यरूपी द्रुम (वृक्ष) को जड़ से उखाड़ती रहती है। जीवन की इस आशा-रूपी नदी को पार करना बड़ा कठिन है। पर धन्य हैं वे योगी, जो अपने हृदय के पवित्र संकल्प से इस नदी को पार कर जाते हैं।

प्रश्न उठता है कि तृष्णा-तरंगकुला तथा मनोरथजला इस आशा-नदी या जीवन-नदी को पार कैसे किया जाए? सबसे उत्तम साधन है—धर्ममय जीवन जीते हुए विवेक एवं वैराग्य के बीच से भगवान् की भक्ति की शरण में जाएँ। तृष्णा के त्याग से ही धीरे-धीरे वैराग्य का भाव आएगा और हमारे जीवन में शाश्वत तथा स्थायी शान्ति आएगी। विजितात्मा होकर ही हम अपने जीवन में सुख, शान्ति एवं आनन्द ला सकते हैं तथा संसार-सागर की निरापद यात्रा सम्पन्न कर ब्रह्मानन्द या परमानन्द को प्राप्त कर सकते हैं। जीवन में इसके लिए धीरे-धीरे वैराग्य और भक्ति को लाते रहना चाहिए।

वैराग्यरागरसिको भव भक्ति निष्ठो: श्रीमद्भागवत महापुराण के माहात्म्य-प्रसंग में दो रोचक एवं जीवनोपयोगी कथाएँ मिलती हैं। पहली कथा है भक्ति देवी की। इसके माध्यम से यह बताया गया है कि मानव के हृदय में ज्ञान, वैराग्य और भक्ति का सम्यक् प्रादुर्भाव कैसे हो तथा तीनों के समन्वय-सामंजस्य से जीवन में पूर्णता कैसे आए। सत्संग और भगवद्कथा तथा भगवान् के चरणारविन्द में अनुराग से ही मानव-जीवन का क्लेश मिट सकता है, अन्यथा दूसरा कोई उपाय नहीं है। वृन्दावन में

ज्ञान और वैराग्य के जर्जर तथा मूर्च्छित होने पर भक्तिदेवी का करुण क्रन्दन सुन कर दिव्यदृष्टि सम्पन्न देवर्षि नारद उनसे कहते हैं— हे बाले! तुम व्यर्थ ही खेद कर रही हो, रो रही हो। तुम चिन्तातुर क्यों हो? भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-कमलों का चिन्तन कर। उनकी कृपा से तुम्हारा सारा दुःख दूर हो जाएगा—

“वृथा खेदयसे बाले अहो चिन्तातुरा कथम्।

श्रीकृष्णचरणाम्भोजं स्मर दुःखं गमिष्यति।।”

(भागवतमहात्म्य : २.१)

इस प्रथम कथा में मानव के दुःख, क्लेश, कष्ट, विपत्ति और चिन्ता के शमन के लिए भगवान् के चरण-कमलों का निरन्तर ध्यान करने का आदेश और सन्देश दिया गया है। वास्तव में भक्ति अमृतमयी है। इसका प्रभाव अमित है। विषय-विष से आक्रान्त जीव का कल्याण अमृतस्वरूपा भक्ति से ही सम्भव है। तभी ते देवर्षि नारदजी ने अपने ‘भक्तिसूत्र’ के दूसरे और तीसरे सूत्रों में भक्ति को परम प्रेमरूपा और अमृतरूपा कहा है—

“सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च।”

भगवद्भक्ति को पाकर व्यक्ति तृप्त हो जाता है, सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है। यह भक्ति हमारे हृदय में तब आती है, जब हम विषयभोगों के मोह से मुक्त हो जाते हैं। यह भक्ति है, जो जीव के क्लेशों और दुःखों को मिटाती है तथा सब प्रकार के शुभों (मंगलों) को देती है। मोक्ष की कामना को भी मिटानेवाली है भक्ति। यह भक्ति ही भगवान् को जीव के निकट आकृष्ट कर पहुँचा देती है। कहा गया है—

“क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।

सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा।।”

(भक्तिरसामृत-सिन्धु पू- ल० : १.१३)

माहात्म्य की दूसरी कथा में बताया गया है कि जीव का उद्धार कैसे हो सकता है? गोकर्णोपाख्यान

में आत्मदेव की एक बड़ी अनुकरणीय कथा है। आत्मदेव की कथा के माध्यम से पुराणकर महर्षि व्यास हमें आश्वासन देते हैं कि उम्र बढ़ने पर और बुढ़ापा आने पर विवेक का आश्रय लेकर धीरे-धीरे अपने में वैराग्य का भाव आ जाना चाहिए। भगवान् की भक्ति में आपने मन को पूरा लगा देना चाहिए; नहीं तो जैसे धुन्धकारी ने अपने पिता आत्मदेव की दुर्दशा की, उसी प्रकार पुत्र, कलत्र और घर के लोग दुर्दशा करने लगेंगे। आत्मदेव, उसकी पत्नी धुन्धली, पुत्र धुन्धकारी और गोकर्ण के माध्यम से व्यासजी ने इसी रहस्य का उद्घाटन किया है। प्रत्येक व्यक्ति आत्मवेद है और उसका विवेक ही गोकर्ण है। जब जीव का सम्पर्क धुन्धलीवृत्ति (तमोगुणीवृत्ति) से हो जाता है, तब व्यक्ति की बुद्धि सद्कार्य के लिए सक्षम और समर्थ होती है। आत्मदेव ही धुन्धकारी और गोकर्ण दोनों को उत्पन्न करता है। जब हमारी दुर्बुद्धि दुर्वासना से आक्रान्त हो उठती है, तब वह धुन्धकारी के रूप में हमें नाना प्रकार के कष्टों को देती है। पर जब हमारी सद्बुद्धि सत्संगग्रहण करती है, तब विवेक उत्पन्न होता है—

भाग्योदयेन बहुजन्म समर्जितेन

सत्संगमं च लभते पुरुषो यदा वै।

अज्ञानहेतुकृत मोहमदान्धकार-

नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः।।”

(भागवत-महात्म्य : २.७६)

गोकर्ण ही विवेक है। गोकर्ण ने अपने पिता आत्मदेव को समझाया। हमारा विवेक भी हमें समय-समय पर समझाता रहता है। गोकर्ण के माध्यम से व्यासदेवजी ने वैराग्य, भक्ति सेवा, भगवद्कथा तथा सत्संग का जो सन्देश दिया है, वही सन्देश आज के पीड़ित, दुःखी और तनावों से आक्रान्त मानव के लिए अनुकरणीय है। दो श्लोकों के माध्यम से यहाँ मैं अतिशय भोगों के विष से

बचने का व्यासजी का सन्देश व्यक्त करता हूँ। गोकर्ण ने कहा— पिताजी! यह शरीर हड्डी, मांस और रुधिर का पिण्ड है। इसे आप 'मैं' मानना छोड़ दें। यहाँ तक कि स्त्री, पुत्रादि को भी अपना न मानें। इस संसार को रात-दिन क्षणभंगुर देखें। किसी भी वस्तु को स्थायी समझकर उसमें राग न करें। बस, एक मात्र वैराग्य-रस के रसिक बनकर भगवान् की भक्ति में लगे रहें—

“देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च ।
पश्यनिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं,
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥”

(भागवतमाहात्म्य : ४.६६)

गोकर्ण ने आगे के श्लोक में बताया कि भगवत्भजन ही सबसे बड़ा धर्म है। अतः निरन्तर उसी का आश्रय लिए रहें। अन्य सब प्रकार के लौकिक धर्मों से मुख मोड़ लें। सदा साधुओं की सेवा करें। भोगों की लालसा को पास न फटकने दें तथा शीघ्रातिशीघ्र दूसरों के गुण-दोषों का विचार करना छोड़कर एकमात्र भगवत्सेवा और भगवत्कथा के रस का ही पान करें—

“धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम् ।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम् ॥”

(भागवत-माहात्म्य : ४.८०)

इस कथा का तात्पर्य इतना ही है कि जब व्यक्ति का विवेक जग जाता है, तब प्रत्येक व्यक्ति (आत्मदेव) का कल्याण और मंगल हो जाता है। यह विवेक ही है जो मानव को सँभाले रहता है और सत्-असत् की पहचान कराता है। विवेक के आते ही दुर्बुद्धि समाप्त हो जाती है और हमारे जीवन के सारे कल्मष, सारे कालुष्य और सारे कष्ट मिट जाते

हैं। यह विवेक सत्संग से प्राप्त होता है तथा सत्संग भगवात्कृपा से प्राप्त होता है। सन्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'मानस' में कहा भी है—

“बिनु सतसंग बिबेक न होई ।
रामकृपा बिनु सुलभ न सोई ॥
सतसंगत मुद मंगल मूला ।
सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥”

(मानस : १.३.४)

इतना ही नहीं, 'मानस' के उत्तरकाण्ड में भी गोस्वामीजी ने कहा है—

“बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गए बिनु राम पद होइ न दृढ अनुराग ॥”

(मानस : ७.६१)

सत्संग से हरिकथा की प्राप्ति होती है और भगवत्कथा से मोह का नाश होता है। मोह मिटते ही भगवान् के पावन चरणों में दृढ़ अनुराग होता है। इस प्रकार जीव परम शान्ति, परम लाभ और परम धाम को प्राप्त कर आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। अतएव हमें धीरे-धीरे अपने भीतर वैराग्य के भावों को आने देना चाहिए और विवेकी बनकर अपने जीवन को धर्ममय, सेवामय और भगवन्मय बनाते रहना चाहिए। हमारा गोकर्णरूपी विवेक मानो बराबर हमें सन्देश देता रहता है कि हमें वैराग्य-रस का रसिक बनकर भगवान् की अमृतमयी भक्ति में लग जाना चाहिए।

धर्मसारमिदं जगत् : इस क्षणभंगुर संसार में हम धर्म, नीति और विवेकमय जीवन जीते हुए नियन्त्रित एवं त्यागमय भोग करें, इसी में हम सबका कल्याण है। यही हमारा दर्शन है, यही हमारी संस्कृति है और यही हमारे धर्मशास्त्रों का आदेश है। यही हमारे पूज्य ऋषि-मुनियों का सन्देश है। हमारा उदात्त चिन्तन इसी पर आधारित है कि त्याग, सेवा और संयम की त्रिवेणी-धारा में स्नान कर ही हम इस

अति मूल्यवान् मानव-जीवन को सार्थक बना सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने श्रीराम के श्रीमुख से ही उपदेश दिलाया है—

“बड़े भाग मानुष तन पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्दि गावा।।
साधन धाम माच्छ कर द्वारा।
पाइ न जेहिं परलोक सँवारा।।”

(मानस : ७.४३.४)

धर्म ही इस संसार का सार है। महर्षि वाल्मीकि अपनी ‘रामायण’ में कहते हैं— ‘धर्मसारमिदं जगत्’। धर्ममय जीवन जीना ही उच्छृंखल भोग पर, अनियन्त्रित भोग पर नियन्त्रण कर सकता है। धर्म एक प्रमुख पुरुषार्थ है। भोग और अर्थ की पराधीनता से बचाने के लिए धर्म पुरुषार्थ होता है। उसमें नियन्त्रण की शक्ति रहती है। इसीलिए महर्षि वाल्मीकि और महर्षि व्यास दोनों ने इस सृष्टि में मानव के लिए धर्म की अनिवार्यता बताई है। भोग और संग्रह को धर्म की मर्यादा में रखना ही मानव-जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता है। धर्म ही हमारे जीवन और हृदय को पवित्र करता है। मन, बुद्धि, चित्त और जीवन को शुद्ध करनेवाला धर्म ही होता है। धर्म ही शाश्वत और सनातन है। इस चलायमान संसार में धर्म को छोड़कर शेष सभी चीजें क्षणिक हैं। धर्म ही अचल है, धर्म ही निश्चल है। कवि का यह कथन कितना मूल्यवान् है—

“चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चलं जीवितयौवनम्।
चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः।।”

लक्ष्मी चंचल है, प्राण चंचल हैं, जीवन एवं यौवन चंचल हैं। इस प्रकार चल और अचल इस संसार में एक मात्र धर्म ही निश्चल है। इस लोक को कौन कहे, परलोक में भी साथ देनेवाला एक मात्र संगी-साथी धर्म ही है, शेष सारी चीजें धन, सम्पत्ति, पशु, पत्नी, सन्तान, मित्र, सम्बन्धी यहाँ

तक कि यह शरीर भी यहीं रह जाएगा। कोई चीज जीवात्मा के साथ नहीं जाएगी। शरीर भी चिता तक ही साथ देगा—

“धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे
भार्यागृहद्वारि जनः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः।।”

महाकवि रामधारी सिंह ‘दिनकरजी’ ने अपनी एक कविता में धर्म को ही एकमात्र सभ्यता का मित्र बताते हुए कहा है—

“धर्म को, श्रद्धा को मत त्यागो।
शील मुकुट नरता का, सबसे बड़ी भव्यता का है,
नहीं धर्म से बढ़कर कोई मित्र सभ्यता का है।”

(हिमालय का सन्देश)

इतना ही नहीं, अपनी एक दूसरी कविता ‘भग्न मन्दिर बन रहा है’ में दिनकरजी ने मात्र धर्म से ही जीव के उद्धार की बात कही है—

“ज्ञान की आराधना दिन का शयन है,
क्लेश से निस्तार केवल कर्म से है।
दर्शनों से सिद्धियाँ किसको मिली हैं?
जीव का उद्धार केवल धर्म से है।”

अतः अतिशय और उच्छृंखल भोगों से बचें, धर्ममय जीवन जीने का अभ्यास करें, नीति तथा विवेक के पथ पर चलें और परमात्मा की शरण में रहें, जीवन की यही सार्थकता है, जीवन का यह लक्ष्य है। वैराग्य-रस का रसिक बनकर भगवान् की भक्ति में लग जाँएँ—

“वैराग्यराग रसिको भव भक्तिनिष्ठः।”

ऋतम्भरा, शान्तिपुरी,
पो० : मोतीहारी,
जिला : पूर्वी चम्पारण (बिहार)
पिन कोड : ८४५४०१



सिद्धि माता

□ जयकान्त मिश्र
पूर्व सम्पादक : आर्यावर्त

महान् आत्मा सिद्धि माता उच्च कोटि के सीमित समुदाय के लोगों के ही बीच रही हैं। वे स्वयं प्रचार से दूर रहती थीं और उनके साहचर्य में रहे लोग भी प्रकाण्ड विद्वान् तथा साधक रहे हैं। स्वनामधन्य महामहोपाध्याय स्वर्गीय गोपीनाथ कविराज, प्रभात कुमार बन्दोपाध्याय, कृष्णा माँ, स्वामी शंकरानन्द, वीरेश्वर चट्टोपाध्याय और कुछ अन्य विशिष्ट व्यक्ति ही माताजी के सान्निध्य में रहते थे। प्रभात कुमार शिक्षाशास्त्री होने के साथ उच्च कोटि के साधक थे। माताजी से सम्पर्क होने के पूर्व वे योगी अरविन्द के अतिमानस साधना के पक्षधर थे, किन्तु माताजी से सम्पर्क होने पर उनसे प्रभावित हो उन्हीं के मार्ग पर चलनेवाले साधकों की गणना में आ गए थे। ऐसे लोग स्वभावतः प्राचार से दूर रहते थे। माताजी स्वयं भी प्रचार नहीं चाहती थीं। ऐसे उनके भक्तों की भी कमी नहीं थी, किन्तु ऐसे लोग चुने हुए ही थे।

सिद्धि माता सामान्य शिक्षा प्राप्त थीं, साथ ही सामान्य जनजीवन में रही थीं। किन्तु कठोर साधना के फलस्वरूप अध्यात्म के क्षेत्र में उस गहराई तक उनकी पहुँच थी, जहाँ लोगों का पहुँचना बहुत ही कठिन होता है। स्वर्गीय गोपीनाथ कविराज उद्भट विद्वान् होने के साथ ही महान् साधक थे, किन्तु वे बहुत बातों में अपना सन्देह मिटाने के लिए माताजी से सदैव मिलते तथा घंटों बातें करते रहते थे।

‘सिद्धि माता’ नाम से अनजान व्यक्तियों को यह भ्रम हो सकता है कि वे चमत्कार दिखानेवाली थीं, किन्तु ऐसा समझना भूल है। साधनशास्त्र के ग्रन्थों में असंख्य सिद्धियों के नाम आते हैं। इनमें अधिक प्रसिद्ध नाम हैं— अणिमा, लघिमा, महिमा

ईशित्व, वशित्व, प्राकाम्य, भुक्ति, इच्छा, प्राप्ति और सर्वकाम। इनके अतिरिक्त स्पर्श-सिद्धि, बुभुक्षामुक्ति सिद्धि आदि बहुत से नाम लिए जाते हैं। भागवत महापुराण के एकादश स्कन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव को चामत्कारिक सिद्धियों के उपदेश दिए हैं। वर्तमान में तमिलनाडु के श्रीला श्री पण्णिगल स्वामिगल ने पंचाक्षर शिवमन्त्र ‘नमः शिवाय’ के माध्यम से पंचभूतात्मक सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। किन्तु ये सभी सिद्धियाँ प्रायः सांसारिक सुख-सुविधाओं के लिए हैं। सिद्धि माता का इन सांसारिक सिद्धियों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है।

उन्होंने बत्तीस वर्षों तक कठोर साधना कर जो सिद्धियाँ प्राप्त की थीं, उनका सम्बन्ध शुद्ध अध्यात्म से है। तन्त्रराज तन्त्र के सिद्धि-प्रकरण के अनुसार वस्तुतः सिद्ध वह है, जिसने ब्रह्म को यथार्थतः जान-समझ लिया है। तन्त्रराज ने कहा है “सिद्धस्तु तद्ज्ञाता” सिद्धि माता के जीवन और साधन-विवरणवाली ‘पुस्तक सिद्धि माता प्रसंग’ की भूमिका में महामहोपाध्याय स्वर्गीय गोपीनाथजी कविराज ने लिखा है— जिस महाप्रस्थान के पथ पर वे पूर्ण मनोयोग से अग्रसर हुई थीं, उस पथ का विवरण जान सकने पर उनका परिचय घनिष्ठ रूप से पाना सम्भव है।

स्वामी शंकरानन्द और वीरेश्वर चट्टोपाध्याय के साथ कविराजजी जब पहली बार माताजी के दर्शन करने गए थे, उस पहली बार के संलाप से ही वे अधिक प्रभावित हुए थे। उन्होंने लिखा है— “आपादमस्तक घूँघट में रहने के कारण उनके मुखदर्शन तो नहीं हो पाए, किन्तु हम लोगों के

प्रश्नों के उत्तर देने में संकोच कुछ भी नहीं हुआ। कण्ठस्वर कोमल होने पर भी दृढ़ तथा करुणाव्यंजक प्रतीत हुआ। उनके दर्शन पाकर तथा सत् चर्चा सुनकर अत्यन्त आनन्द हुआ। सरलता, एकाग्रता, अखण्ड निष्ठा और केवल भगवान् के चिन्तन में सम्पूर्ण जीवन का उत्सर्ग— यही उनके जीवन की विशिष्टता थी। उन्होंने भगवद्भक्ति की सहायता से अपने जीवन को सुदृढ़ वैराग्य के ऊपर प्रतिष्ठित किया था।उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव किया था कि भगवान् ही उनके पथप्रदर्शक हैं और वे ही उनके एकमात्र लक्ष्य हैं।”

माताजी भक्तिपथ की पथिक थीं। वे कहती थीं— “साधन के पहले भी भक्ति और अन्त में भी भक्ति। भक्ति ही साधन के प्राण हैं।” उनके इस कथन पर टिप्पणी करते हुए कविराजजी ने लिखा है— भक्तिमार्ग में अखण्ड विश्वास होने पर भी यह कहना पड़ेगा कि ज्ञान, महाज्ञान आदि को उन्होंने पूर्ण रूप से हस्तगत किया था और अन्तिम अवस्था में उन्हें परम पद का साक्षात्कार हुआ था। वे जिस अद्वैत भूमि पर पहुँची थीं, वह शास्त्रविचार-जनित नहीं था, वह सुदीर्घ कालव्यापी साधना का सुमधुर फल था।

साधना के परिणाम-स्वरूप उनमें तत्त्वज्ञान का विकास कितना हुआ था, इसके एक दो उदारहण द्रष्टव्य हैं। गुरुतत्त्व के विषय में माताजी कहती थीं—“साधक की अवस्था के तारतम्य के अनुसार गुरु एक होने पर भी क्रिया-भेद से चार प्रकारों में होते हैं—गुरु, विश्वगुरु, गुरु ब्रह्म और सद्गुरु। जो शिष्य की कुण्डलिनी जगाकर चक्रभेद कराने में सहायता करते हैं, वे गुरु हैं। जिनमें कुण्डलिनी जगाने की शक्ति न हो, उन्हें वे गुरु नहीं मानती थीं। षट्चक्रभेदन के उपरान्त विश्वभेद जिनकी कृपा से हो, वे विश्वगुरु हैं। षट्चक्रभेदन के बाद और ब्रह्मज्ञान का उदय होने से पहले तक विश्वगुरु का अधिकार जानना चाहिए। इसके अनन्तर ब्रह्म-साक्षात्कार होता है। यह विश्व की अतीतावस्था है। जिनके कृपा-कटाक्षपात से अशेष विशेष सहायता

से ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, वे ब्रह्म गुरु के नाम से जाने जाते हैं। किन्तु ये सद्गुरु नहीं हैं। जिनकी महाकृपा से आत्म-साक्षात्कार होता है, वे सद्गुरु हैं।

सद्गुरु का स्थान ब्रह्म गुरु से भी ऊपर है। आत्म-साक्षात्कार के सम्बन्ध में उनका कहना था—“परिपूर्ण ब्रह्मावस्था की स्थिति होने के अनन्तर यथार्थ आत्म-साक्षात्कार होता है, उसके पहले नहीं, पहले जो आत्मदर्शन होते हैं, वे वस्तुतः आभासमात्र हैं”।

इसी प्रकार ज्ञान अथवा महाज्ञान का स्वरूप निर्णय के क्रम में वे कहती थीं—ज्ञान तब तक पूर्ण रूप से उज्ज्वल नहीं होता, जब तक चैतन्य का विकास नहीं होता। ज्ञान और चैतन्य यद्यपि स्वरूपतः अभिन्न हैं, तथापि दोनों में कुछ भेद है। चेतना अत्यन्त गूढ़ विषय है। ब्रह्मज्ञान से लेकर महाशून्य के साक्षात्कार के पहले तक जो ज्ञान है, उसमें चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि उस समय भी कर्मबीज अथवा मूल अविद्या नष्ट नहीं होती। महाशून्य का भेदन करने के अनन्तर परिपूर्ण ब्रह्मावस्था में जिस ज्ञान का आविर्भाव होता है, वह उच्च स्तर का ज्ञान है। वह ज्ञान अग्निस्वरूप होने के कारण मूल अज्ञान को जला देता है।

अविद्या-निवृत्ति के बाद ब्रह्माग्नि के शान्त होने पर चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। उस अवस्था का ज्ञान ज्ञानाग्नि से भी बढ़कर है। यह उज्ज्वल महाज्ञान है। चैतन्य की अभिव्यक्ति होने पर ज्ञान वास्तविक रूप में निखर उठता है और स्वरूपात्मक ज्ञान जाग जाता है। यद्यपि ज्ञान और चैतन्य एक ही हैं, तथापि पूर्णता के अनुसार—माताजी कहती थीं कि ज्ञान भी चाहिए और चैतन्य भी। इसे और अधिक स्पष्ट करती हुई उन्होंने कहा था—“शिव और शक्ति जिस प्रकार अभिन्न होने पर भी शक्तिहीन शिव शिव नहीं हैं, उसी प्रकार ज्ञान और चैतन्य के अभिन्न होने पर भी चेतनाहीन ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है। महाशक्ति के अवतरण के पूर्व जो ज्ञान उपलब्ध होता है वह चेतनाहीन ज्ञान है। महाशक्ति के अवतरण के अनन्तर चैतन्य का

उन्मेष होने से ज्ञान चैतन्य के साथ अभिन्न रूप से धवल रूप में प्रकट होता है।

सिद्धि माताजी की ऐसी बातों का पूरा संकलन दिया जाए तो यह पुस्तक का रूप ले लेगा। इसलिए एक और बात कहकर इस प्रसंग को छोड़ता हूँ। माताजी जिसको चैतन्य कहतीं और कहतीं कि ज्ञान के साथ चैतन्य का स्फुरण होने से आनन्द अथवा उल्लास व्यक्त हो उठता है, वहीं महाशक्ति की क्रिया है। कविराजजी ने उनके इस कथन पर टिप्पणी करते हुए कहा है—“इससे ज्ञात होता है कि माताजी की चरम अनुभूति बहुत अंशों में अद्वैत शैवागम के अनुरूप है।”

सिद्धि माता की अभिव्यक्तियों से इतना स्पष्ट होता है कि उनका परम लक्ष्य परमपद, जिसे वे परम व्योम कहती थीं, प्राप्त करना था। उसका उन्होंने साक्षात्कार भी किया था। इसकी प्राप्ति इसलिए नहीं कही जा सकती कि पार्थिव शरीर में इसकी क्षमता नहीं होती।

जन्म और किशोरावस्था: बंगाल के (सम्प्रति बंगला देश) यशोहर जिले के अन्तर्गत नाराइल सब-डिवीजन में मल्लिकपुर गाँव है। यह सिद्धि माता का पैतृक गाँव है। उनके पिता का नाम हरिदास चट्टोपाध्याय और माताजी का नाम श्याम सुन्दरी था। जन्म मल्लिकपुर में नहीं, नदिया जिले के नैला जमालपुर (ननिहाल) गाँव में हुआ था। सिद्धि माता की जन्मकुण्डली उपलब्ध नहीं होने के कारण उनके जन्मदिन का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। किन्तु उन्होंने (माताजी ने) बताया था कि जब वे काशी आई थीं, तब उनकी उम्र बाईस वर्ष की थी। यह बात संवत् १९६६ की है। इससे पता चलता है कि उनका जन्मवर्ष सम्वत् १९४२ था। उनका प्रसिद्ध नाम कात्यायनी था, किन्तु बंगाल की परिपाटी के अनुसार उन्हें सभी भुजंगिनी कहकर पुकारते थे। उनकी माँ उन्हें प्यार से भुजबाला कहती थीं।

माताजी बचपन से ही ईश्वर-भक्ति में देखी जाती थीं। चार वर्ष की उम्र से ही वे अपनी माताजी

की पूजा में फूल आदि सामान जुटाने में अधिक रुचि दिखाती थीं। एक दिन वे माँ पर जोर डालने लगीं— तुम जो मन्त्र जपती हो, उसे मुझे भी बता दो, मैं भी जप करूँगी। विवश होकर माँजी ने ‘सीता-राम’ मन्त्र दिया और उन्होंने अति प्रसन्न होकर यह मन्त्र नियमित रूप से जपना आरम्भ कर दिया।

माताजी बहुत कम उम्र की थीं, तभी उनका विवाह जशोहर जिले के डांगा गाँव के गिरीशचन्द्र मुखोपाध्याय के पुत्र कृष्णचन्द्र मुखोपाध्याय से कर दिया गया था। विवाह-बन्धन से उनके जीवन में न कोई अन्तर आया, न भक्ति-भाव में कमी आई। कालचक्र अपनी धुरी पर चलता रहा और ग्रामीण जीवन में दो दशक किस प्रकार व्यतीत हो गए, पता नहीं चला।

काशी-आगमन और कठोर साधना : अनुमानतः संवत् १९६८ में तीर्थाटन कार्यक्रम बना और तदनुसार सिद्धि माताजी माता, पिता, सास और पति के साथ काशी आ गईं और वहाँ के अगस्त कुण्डा मोहल्ले के एक मकान में रहने लगीं। वहाँ रहकर नित्य गंगास्नान और विश्वनाथ, अन्नपूर्णा तथा अन्य देवमन्दिरों में जाकर पूजा-अर्चना का कार्यक्रम चलता रहा। बाद में तीर्थाटन का विचार छूट गया और सभी वहाँ स्थायी रूप से रहने लगे। जब वे लोग घर से चले थे, तब तीर्थाटन कर घर लौटने का विचार था। किन्तु काशी आने के बाद वहाँ आजीवन रहने का निश्चय कर लिया गया।

अगस्त कुण्डावाले मकान में माताजी के पिता अस्वस्थ हुए और उसी मकान में उनका देहान्त हो गया। कुछ समय बाद माताजी की सास का शरीर भी छूट गया। पिता और सास के देहावसान के बाद अगस्त कुण्डा का मकान छोड़ देने का निश्चय किया गया और तदनुसार माताजी पति और अपनी माताजी के साथ मल्लिकपुर-निवासी (जशोहर जिला) क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय के काशी-स्थित मकान में आकर रहने लगीं। इस मकान में माताजी ने दीर्घकाल तक कठोर साधना

की थी। इसी मकान में सिद्धि माताजी की माता का देहान्त हुआ था। सिद्धि माता नियमित रूप से विश्वनाथ, अन्नपूर्णा, विशालाक्षी चतुःषष्टि योगिनी, केदारनाथ आदि देवी-देवताओं के मन्दिरों में जाकर पूजा करती थीं। उनके लिए देवी-देवता पाषाण-शरीर नहीं, चिन्मय शरीर में प्रकाशित रहते थे।

कठोर साधना की अवधि में (आरम्भिक काल में) कतिपय घटनाएँ आश्चर्यजनक प्रतीत होती हैं। एक दिन विश्वनाथ-मन्दिर में प्रवेश करते ही माताजी को लगा कि मन्दिर के चारों तरफ महादेव की मूर्तियाँ झूल रही हैं। एक दिन एक ब्राह्मण ने आकर माताजी को एक डिब्बा दिया और कहा— देखो, ये हर-गौरी हैं। इन्हें विश्वनाथ के मस्तक पर चढ़ा देना। उन्होंने जाकर विश्वनाथ के मस्तक पर चढ़ाया और चढ़ाते ही वे मूर्तियाँ गायब हो गईं।

एक दिन वे ध्यानमग्न होकर अन्नपूर्णा के दर्शन के लिए जा रही थीं। ध्यानावस्था में कहीं दूर निकल गईं। राह भूल गईं। इस समय देखा—एक सोलह वर्ष की परम सुन्दरी लड़की आ रही है। उससे उन्होंने अपनी कठिनाई बताई तो उसने कहा—मैं भी तो उधर ही जा रही हूँ। माताजी उसके साथ हो गईं। थोड़ी दूर जाने पर उसने कहा—यह ढुंढिराज गणेश का मन्दिर है। तुम यहाँ से अन्नपूर्णा-मन्दिर जा सकती हो। माताजी ने कुछ दूर आगे बढ़ने के बाद पीछे मुड़कर देखा तो वह गायब थी।

इस प्रकार की कितनी घटनाएँ उनके साथ हुई थीं।

श्री सिद्धि माता ने बताया था कि काशी आकर अविच्छिन्न रूप से बत्तीस वर्ष, कठोर साधना पूरा कर आसन त्याग दिया। उनका लक्ष्य था, परम पद की प्राप्ति। देह रहते यह सम्भव नहीं था। किन्तु आत्म-साक्षात्कार के बाद उन्हें परम पद के दर्शन हुए थे। इस बीच कई तरह की घटनाएँ होती रहीं।

माताजी की माँ का देहान्त होने के कुछ समय बाद पति का भी देहान्त हो गया। पति के परलोकवासी होने पर वे कुछ विचलित हुई थीं। मणिकर्णिका में अन्त्येष्टि के समय उनके मुख से निकला था—**काले स्रोते भेसे जाय** (अर्थात् सभी काल के प्रवाह में बहे जा रहे हैं।) किन्तु वे शीघ्र सामान्य हो गई थीं। साधना पूर्ववत् चलती रही।

कठोर साधना के उत्तर काल में उनके शरीर में परिवर्तन होने लगे थे। शरीर पर ॐ, पादपद्म आदि उभरने लगे थे और बाद में कायाभेदी वाणियाँ निकलने लगी थीं। उन वाणियों में बहुत मन्त्र होते थे और सन्देश भी। उन वाणियों का पूरा विवरण देना यहाँ सम्भव नहीं है, किन्तु एक दो यहाँ दिए जा रहे हैं—(२६, ज्येष्ठ संवत् १६६१) **केवल मात्र कृपाई पूर्णत्वे संवल। उंकार प्रचण्ड मन्त्र।** (३०, ज्येष्ठ संवत् १६६१) **गोलोकेर देवगण महानन्दे मग्न। अगणित पादपद्म देवता देरइ चरण। लीलाय देवतादेर विकास विभिन्न बटे। किन्तु देवतागण एकात्मा पूर्ण ब्रह्म भावापन्न। एखाने काहउर प्रभेद नाई। एकइ अनन्तरूपधारी ओ बहुरूपेर लय एकइ पूर्ण ब्रह्म।** (ज्येष्ठ ३१ संवत् १६६१) **क्षणे-क्षणे आमार स्मरणइ पूर्णत्वलाभेर प्रकृष्ट पन्थ। मीमांसा ज्ञाने दृढभित्ति। गोलोक ज्ञानमय, गोलोक मधुमय, गोलोक आनन्दमय, गोलोक ब्रह्ममय, गोलोक पूर्ण।** (१२ आषाढ संवत् १६६१) **आमार स्वरूप पूर्ण सत्यपूर्ण (ब्रह्म) एक स्वरूपे असीम सौन्दर्य अपूर्व ज्योति दीस तेज। अनन्त अक्षय सुख एकमात्र गोलोकेई सम्भव। आमा के एकनिष्ठ भावे ओ पूर्ण रूपे आत्मसमर्पणइ एइ गोलोके गतिर ध्रुव उपाय।**

संवत् १६६०, १८ सौर, वैशाख सोमवार के दिन माताजी ने शरीर-त्याग किया। वे अशक्त होती गई थीं, किन्तु उन्हें कोई बीमारी नहीं थी।

चाँदमारी रोड,
पटना-२०



राष्ट्रहितैषिणी वीरांगना:माता कैकेयी

□ महेश प्रसाद पाठक

श्रीराम के वनगमन के प्रसंग की मुख्य सूत्रधार माता कैकेयी की लोक-निन्दित छवि को ही जनमानस ने अपने हृदय में बैठाया है। श्रीराम के वनवास के प्रसंग में माता कैकेयी एवं दासी मन्थरा के चरित्र सहभागी हैं। जननायक श्रीराम, उनकी भार्या सीता एवं अनुज लक्ष्मण-सहित वनगमन के केन्द्रबिन्दु कैकेयी को विविध रामायणों एवं राम-साहित्य ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भी देखा है।

जिस समय अयोध्या में श्रीराम के राज्यारोहण की घोषित तैयारियाँ हो रही थीं, उस समय नेपथ्य में एक अन्य अघोषित कार्यक्रम के बीजांकुर प्रस्फुटित हो चुके थे। ठीक राज्यारोहण से पहले कैकेयी ने महाराज दशरथ को उनके द्वारा दिए गए दो वरों का स्मरण कराया। कैकेयी सारी सम्भावनाओं का मनन कर मानो समाज की निन्दा एवं घृणा सहने को तैयार बैठी थीं। इस सम्पूर्ण कार्यक्रम में देवसमूह ने भी अपने कुचक्रों को अन्तिम रूप देने के लिए कैकेयी को ही चुना।

इस प्रसंग में यह स्मरण करना चाहिए कि पहले महाराज दशरथ सन्तानहीन एवं दुःखित रहा करते थे। सर्वप्रथम उन्होंने कौसल्या से विवाह किया फिर मगधराज की कन्या सुमित्रा से विवाह किया। परन्तु दैववश वे अब भी सन्तानहीन ही रहे। अब महाराज दशरथ प्रौढ़ावस्था को छू रहे थे। अन्त में गुरुजनों की आज्ञा से कैकयराज की पुत्री कैकेयी से महाराज का विवाह हुआ, तभी उन्होंने कैकयराज से शर्त की थी कि कैकेयी से उत्पन्न सन्तान ही मेरे बाद राज्याधिकारी होगी। परन्तु पुत्रमोह

यथावत् बना रहा। अन्ततः पुत्रेष्टि द्वारा तीनों से चार पुत्र हुए।

पुनः यह घटना देवासुर-संग्राम की है, जिसमें अन्य राजाओं की भाँति देवों के पक्ष से राजा दशरथ भी युद्धरत थे। यह युद्ध शम्बर नामक एक महान् मायावी असुर के साथ चल रहा था, जिसके ध्वज पर तिमि (एक विशेष मछली) का चिह्न बना था। राजा दशरथ का इस असुर के साथ बड़ा ही भीषण संग्राम हुआ। इस युद्ध में राजा दशरथ का शरीर अस्त्रों-शस्त्रों द्वारा क्षत-विक्षत हो गया था। रणक्षेत्र में उनकी चेतना लुप्त हो गई थी (वाल्मीकीय रामायण : ०२.०६.११-१६)। उसी समय एक कुशल सारथि का कार्य करती हुई, रणक्षेत्र के समसामयिक ज्ञान एवं युद्धकर्तव्य का पालन करती हुई कैकेयी ने एक कुशल वीरांगना की भाँति महाराज दशरथ को सुरक्षित स्थान ले जाकर संकट से उबारा एवं अनवरत सेवा-सुश्रूषा करती रहीं, जिससे महाराज को आरोग्यप्राप्त हुआ। तभी उन्होंने कैकेयी को दो वरदान दिए थे।

तत्र चापि मया देव यत् त्वं समभिरक्षितः।

जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्रददौ वरौ।।

(वाल्मीकि-रामायण : ०२.११.१६)

परन्तु ये वरदान कैकेयी ने तत्काल न लेकर इच्छानुसार समय पर ही लेने की बात कही। कैकेयी अपने समस्त परिवार में सुमति-भाजन एवं सम्मानित थीं। इन्होंने अपने उन दो वरदानों को भी विस्मृत कर दिया था।

कैकेयी की एक दासी मन्थरा थी, जो विरूपा एवं कुब्जा थी। अपनी अपंगता के बावजूद वह राजनीति, कूटनीति एवं प्रपंच की विशारदा थी। तात्कालिक निर्णय की असाधारण क्षमता-सम्पन्न मन्थरा कैकेयी में मतिभ्रम उत्पन्न कर पारिवारिक उथल-पुथल में सहायिका बनी। परिणामतः मन्थरा पूर्वनियोजित कृत्यों को कार्यरूप देने का संकल्प कर बैठी। जहाँ अयोध्या-नगरवासी श्रीराम के राज्याभिषेक हेतु आनन्दित थे, वहीं दुःखित मन्थरा रानी कैकेयी को समाचार देती है कि श्रीराम का राज्याभिषेक होनेवाला है। यह सुन शुद्धहृदया कैकेयी स्वयं को धन्य मानती हैं।

जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू।
होहूँ राम सिय पूत-पतोहू॥
प्रान तेँ अधिक रामु प्रिय मोरें।
तिन्ह के तिलक छोभु कस तोरें॥

(मानस : २.१५.४)

हर्षित होती हुई कैकेयी उस समय शरत्-पूर्णिमा के चन्द्रमण्डल की भाँति प्रकाशित होती हुई मन्थरा को पुरस्कार स्वरूप अपना दिव्याभूषण भी प्रदान करती हैं—

“दिव्यमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम्॥”

(वाल्मीकि रामायणः २.७.३२)

उपहार पाकर मन्थरा श्रीराम-राज्याभिषेक के गर्भ में छिपे सम्भावित दुष्परिणामों से कैकेयी को सचेत एवं परिचित कराती है तथा स्मरण दिलाती है कि अब समय आ गया है कि युद्धभूमि में महाराज द्वारा दिए गए दोनों वरदानों को माँगा जाए। ये वरदान थे—अपने पुत्र भरत का राज्यारोहण एवं श्रीराम को चौदह वर्षों का वनवास।

दुइ बरदान भूप सन थाती।
मागेहु आजु जुड़ावहु छाती॥
सुतहि राजु रामहि बनबासू।
देहु लेहु सब सवति हुलासू॥

(मानस : २.२२.३)

कुचक्री मन्थरा द्वारा कहे गए ये वचन (दो वरदान) कैकेयी को रुचिकर नहीं लगे, क्योंकि चारों भाई तीनों रानियों को समान रूप से प्यारे थे।

उपर्युक्त कुचक्र की आधारशिला देवविवेक द्वारा रची गई थी। समस्त देवताओं को भी यह अप्रिय लग रहा था कि श्रीराम का राज्यारोहण होनेवाला है। कुछ ऐसा करें, जिससे श्रीराम का वनगमन हो जाए और हम सबों के कार्य सिद्ध हो जाएँ।

बिपति हमारि बिलोकि बड़ि मातु करिअ सोइ आजु।

रामु जाहिं बन राजु तजि होइ सकल सुरकाजु॥

(मानस : २.११)

माता सरस्वती संकोच में पड़ गई। माता ने सोचा कि देवताओं की बुद्धि भी आज विपरीत जान पड़ती है। परन्तु देवताओं ने समझाते हुए कहा कि श्रीराम ब्रह्म हैं, इनका प्रभाव अनन्त है। हम सबों के हितार्थ अर्थात् “परित्राणाय साधूनाम्” ही राम-वनगमन होने जा रहा है। अतः माता! ऐसा ही आप होने दें।

माता सरस्वती देवताओं के निमित्त मन्थरा एवं कैकेयी को वे दो वरदान स्मरण कराए। परन्तु कैकेयी इनपर पूर्व में सम्मत नहीं थीं। तब मन्थरा ने अपने अपूर्व वाक्चातुर्य का प्रयोग करते हुए वरदान माँगने का तरीका भी समझाया—

भूपति राम सपथ जब करई।
तब मागेहु जेहिं वचनु न टरई॥
होइ अकाजु आजु निसि बीतें।
वचनु मोर प्रिय मानेहु जी तें॥

(मानस : २.२२.४)

बड़ कुघातु करि पातकिनि कहेसि कोपहूँ जाहु।

काजु सँवारेहु सजग सबु सहसा जनि पतिआहु॥

(मानस : २.२२)

अन्ततः कैकेयी की बुद्धि मारी गई और अपने दोनों वरदान महाराज दशरथ से प्राप्त करने में सफल भी हुई।

उपर्युक्त प्रकरण में राष्ट्रहित के ही बीज बोए गए थे; क्योंकि श्रीराम-वनगमन द्वारा खर-दूषण आदि राक्षसों का वध, लंकाविजय, रावणवध आदि-जैसे अनेक लोकहित कार्य सम्पन्न होनेवाले थे। इनसे देवताओं की अभिलाषा- “दुष्टों का संहार एवं सन्तों का त्राण”- पूर्ण होने जा रही थी।

इस प्रकार शक्ति के स्वरूप का जागरण हो चुका था, जिससे सम्पूर्ण वातावरण आन्दोलित था। देवों में नवीन स्फूर्ति व्याप्त थी। श्रीराम भी मातृसत्ता का आनन्द लेने के लिए उतावले थे। अपनी माता कैकेयी के वचन का पालन एवं जननीरूपा मातृभूमि की रक्षा हेतु अपनी लोकलीला भी आरम्भ करनेवाले थे।

इधर श्रीराम का वनगमन तो हुआ, परन्तु भरतजी का राज्यारोहण न हो सका। वे श्रीराम के वनवास एवं पिता की मृत्यु का समाचार जानकर केवल माता कैकेयी से ही विमुख न हुए, वरन् राजलक्ष्मी से भी पराङ्मुख हो गए।

श्रुत्वा तथाविधं मृत्युं कैकेयीतनयः पितुः।

मातुर्न केवलं स्वस्याः श्रियोऽप्यासीत्यराङ्मुखः।।

(रघुवंश : १२.१३)

उन्होंने नन्दिग्राम में श्रीराम के आगमन तक तपोमय जीवन व्यतीत किया। माता कैकेयी भी असहाय एवं दुःखित थीं कि पुत्र भरत का भी भ्रातृप्रेम-वश राज्यारोहण न हुआ और महाराज भी असमय स्वर्ग सिंघार गए।

कैकेयी की अन्तर्वेदना को समझनेवाला कोई नहीं था। दैववश ये विवश थीं। सबों के समक्ष भरतजी ने भी अपनी माता को कुलघातिनी, कुलकलंकिनी (वाल्मीकि-रामायण : २.६३.५), पापिनी (वाल्मीकि-रामायण : २.६३.११), लोभिनी (वाल्मीकि-रामायण : २.६३.१३), राक्षसी (वाल्मीकि-रामायण : २.६४.८), कुमाता, क्रूरकर्मा आदि वज्रतुल्य (कठोर) शब्दों से प्रताड़ित भी

किया। परन्तु ये अपयशभागिनी शान्तचित्त होकर अपमान का घूट पीती रहीं।

कैकेयी ने तो राष्ट्रहित में ही अपना मान-सम्मान त्याग कर अपने पुत्र भरत को प्रभुसेवा में अर्पण कर भाई-भाई के शाश्वत सम्बन्ध के गौरव को और बढ़ाया, जिसका उदाहरण आज भी घर-घर में विद्यमान है-

राम भरत सम भाई।

एवं

भयऊ न भुअन भरत सम भाई।।

(मानस : २.५६.४)

जब अयोध्यावासी चित्रकूट में श्रीराम, सीता एवं लक्ष्मण के दर्शनार्थ तीनों माताओं के साथ पधारे थे, तब वापसी यात्रा-क्रम में विचारशील कैकेयी ने एकान्त में श्रीराम से कहा था कि हे राम! माया ने मुझे मुग्धचित्त कर रखा था, जिससे मैंने तुम्हारे राज्याभिषेक में विघ्न डाला। मेरी इस कुटिलता को क्षमा करना, क्योंकि साधुजन क्षमाशील होते हैं।

कैकेयी राममेकान्ते स्रवन्नेत्रजलाकुला।

प्राञ्जलिः प्राह हे राम तव राज्यविधातनम्।।

कृतं मया दुष्टधिया मायामोहितचेतसा।

क्षमस्व मम दौरात्स्यं क्षमासारा हि साधवः।।

(अध्यात्म-रामायण : २.६.५५-५६)

पुनः कैकेयी कहती हैं कि देवताओं के कार्य सिद्ध करने की इच्छावाले आपके द्वारा ही प्रेरित होकर मुझ पापिनी ने अपनी दुष्ट बुद्धि से यह पापकर्म किया। मैं लज्जित हूँ।

तब श्रीराम ने मन्द हास्यपूर्ण वाणी द्वारा माता कैकेयी को सान्त्वना देते हुए कहा- माता! आपने सही कहा। मेरी प्रेरणा से ही देवहितार्थ तुम्हारे मुख से वे शब्द निकले थे। इसमें आपका कोई दोष नहीं। आप अब भी मेरे लिए आदरणीया हैं। आप बड़ी भाग्यशालिनी हैं कि संसारभय को

दूर करनेवाला मेरा तत्त्वज्ञान आपको प्राप्त हो गया। श्रीराम ने हाथ जोड़कर माता कैकेयी से कहा— माँ! तुम्हारे ही पुण्यप्रताप से हमारे पिताजी अपने सत्यपथ से विचलित नहीं हुए। यदि तुम वरदान न माँगी तो उनकी वरदान देने की प्रतिज्ञा भी झूठी हो जाती। ये बातें कैकेयी को आत्मबल बढ़ाने के लिए पर्याप्त थीं।

कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब सत्या-

त्राभ्रश्यत स्वर्गफलाद् गुरुर्नः।

तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति

जहार लज्जां भरतस्य मातुः।।

(रघुवंश : १४.१६)

माता के प्रति अपना सम्पूर्ण सम्मान व्यक्त करना श्रीराम के सम्पूर्ण जीवन-चरित में मिलता है, क्योंकि— “न मातुः परंदैवतम्।।” मातृऋण से कभी मुक्त नहीं हुआ जा सकता है। इसलिए मातृशक्ति की महत्ता अकथनीय है। श्रीराम, सीता एवं लक्ष्मण जब वनवास समाप्त कर अयोध्या वापस आए, तब श्रीराम ने सर्वप्रथम माता कैकेयी के आशीर्वाद प्राप्त किए। श्रीराम-राज्यारोहण की घड़ी में पुत्र को सिंहासन पर देखकर तीनों माताएँ हर्षित होती हुई बारी-बारी से आरती भी उतारती हैं।

सुत बिलोकि हरर्षी महतारी।

बार-बार आरती उतारी।।

(मानस : ७.१२.३)

इस प्रकार राष्ट्र पर छाए असुर-साम्राज्य का अन्त श्रीराम-वनगमन का ही परिणाम था। परन्तु इस परिप्रेक्ष्य में माता कैकेयी ने अपने सम्पूर्ण जीवन को अपयश का सहचर बनाया।

कैकेयी एक अपूर्व वीरांगना, युद्धनीति-निपुणा एवं अस्त्र-शस्त्र संचालन में भी निष्णात थीं, क्यों कि समरांगण कायरों का क्षेत्र नहीं।

एक प्रसंग में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्तजी ने अपने ‘साकेत’ में लक्ष्मण को शक्ति-बाण लगने पर लिखा है कि शक्तिबाण लगने की सूचना अयोध्यावासियों को हनुमान्जी द्वारा प्राप्त हुई तो माता कैकेयी ने अपनी प्रतिक्रिया इस प्रकार व्यक्त की है—

भरत जायगा प्रथम और मैं जाऊँगी,

ऐसा अवसर भला दूसरा कब पाऊँगी?

मैं निज पति के संग गई थी असुर-समर में,

जाऊँगी अब पुत्र-संग भी अरि-संगर में।।

अपने मान-सम्मान, यश-अपयश, स्तुति-निन्दा से परे रहनेवाला कोई व्यक्ति ईश्वर-भक्त ही कहलाएगा। राष्ट्रहित की चिन्ता एवं देवकार्य के लिए स्वयं को इतिहास-कलंकित बनाकर विपद्ग्रस्त राष्ट्र को संकट से उबारने का अनिर्वचनीय सहयोग देकर एक उदारहण प्रस्तुत करनेवाली माता कैकेयी प्रणम्य हैं। इन्होंने साध्य पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया, साधनों पर नहीं। कर्तव्य-वेदी पर स्वयं को जलाकर राष्ट्र को त्राण दिलानेवाली कैकेयी की कथावस्तु पर गहन मनन करने से यह बात अवश्य हमारे मानस-पटल पर आती है कि इनपर दोष-मण्डन सर्वथा अनुचित एवं अज्ञानिता है।

यूको बैंक, बेरमो शाखा,

फुसरो बाजार,

बोकारो, झारखण्ड-८२४१४४



हेमः खेदो न दाहेन छेदेन कषणेन वा।

तदेव हि परं दुःखं यद् गुंजासमतोलनम्।।

आग में तपना, काटना या कसौटी पर गड़ना सोना के लिए कष्टदायक नहीं है, पर दुःखद यह है कि उसे गुंजा से तौला जाता है।

धर्म में समन्वय की भावना

□ डा० एस०एन०पी० सिन्हा

वेदान्त का चूड़ान्त ज्ञान, बुद्ध की महान् करुणा, शंकर का तात्त्विक बोध एवं ब्रह्मज्ञान से पूर्ण स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरुदेव भगवान् श्री रामकृष्ण परमहंस को अपना श्रद्धा-सुमन इन शब्दों में अर्पित किए थे— “अब एक ऐसे महापुरुष के जन्म लेने का समय आ गया था, जो शंकर की प्रतिभा से सम्पन्न एवं चैतन्य के अद्भुत, विशाल, अनन्त हृदय का एक ही साथ अधिकारी हो, जो देखे कि सब सम्प्रदाय एक ही आत्मा, एक ही ईश्वर की शक्ति से परिचालित हो रहे हैं। और प्रत्येक प्राणी में वही ईश्वर विद्यमान है, जिसका हृदय भारत में अथवा भारत के बाहर दरिद्र, दुर्बल, पतित सबके लिए द्रवित हो, लेकिन साथ ही जिसकी विशाल बुद्धि ऐसे महान् तत्त्वों की परिकल्पना करे, जिनसे भारत में अथवा भारत से बाहर सब विरोधी सम्प्रदायों में समन्वय साधित हो और इस अद्भुत समन्वय द्वारा वह एक हृदय और मस्तिष्क के सार्वभौमिक धर्म को प्रकट करे और वे उत्पन्न हुए। वे अद्भुत महापुरुष थे— श्रीरामकृष्ण परमहंस।” ...

“यदि मैंने जीवन भर एक भी सत्य शब्द कहा तो वह उन्हीं का था.... और जो असत्य, भ्रमपूर्ण अथवा मानव-जाति के लिए हितकारी नहीं तो वे सब मेरे ही शब्द हैं। ... वे तो अनन्त भावमय हैं। उनके कृपा-कटाक्ष से एक क्यो, लाखों विवेकानन्द पैदा हो सकते हैं। श्री गुरुदेव ने स्वयं कहा था— “जो राम थे, जो कृष्ण थे, वे अब इस शरीर में रामकृष्ण हैं, केवल तेरे वेदान्त के मत से नहीं।” श्री गुरुदेव-जैसे पुरुषोत्तम ने इससे पहले

जगत् में और कभी जन्म नहीं लिया था। संसार के घोर अन्धकार में अब ये ही महापुरुष ज्योतिस्तम्भ-स्वरूप हैं।समदर्शन ही उनका भाव था। उनकी दृष्टि में सभी धर्म सत्य हैं। वे कहते थे— “धर्मजगत् में सभी धर्मों का स्थान है। मैं सत्य का दर्शन करता हूँ— सतत प्रयास, साधना से सभी लोग ईश्वर की अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं। उनका उद्घोष था “जीव-सेवा ही शिव-सेवा है।”....

....“श्री रामकृष्ण की पूजा एक महान् अवतार के रूप में होती है। उनका जन्मदिवस एक धर्मोत्सव के रूप में मनाया जाता है। धर्म का सार्वलौकिक, सार्वकालिक व सार्वदेशिक स्वरूप अपने जीवन में निहित कर लोक-कल्याण हेतु वे अवतीर्ण हुए। इस भूमि से धर्म का बारम्बार लोप हुआ है और भगवान् ने इसे पुनरुज्जीवित किया है। वर्तमान पतन की गहराई के सामने सब पतन गोपद के समान तुच्छ जान पड़ते हैं। परन्तु इसके प्रथम निदर्शन-स्वरूप परम कारुणिक भगवान् रामकृष्ण पूर्व सभी युगों की अपेक्षा अधिक पूर्णता प्रदर्शित करते हुए सर्वभाव-समन्वित एवं सर्वविद्यायुक्त होकर युगावतार के रूप में अवतीर्ण हुए हैं।”

“यह नवयुगधर्म समस्त जगत् के लिए विशेषतः भारत के लिए महान् कल्याणकारी है और इस युगधर्म के प्रवर्तक भगवान् रामकृष्ण परमहंस पहले के समस्त युगधर्म-प्रवर्तकों के पुनः सुसंस्कृत प्रकाश हैं। जिस शक्ति के उन्मेष मात्र से दिग्दिगन्त-व्यापी प्रतिध्वनि जाग्रत हुई है, कल्पना से उसकी पूर्णावस्था का अनुभव करो, व्यर्थ सन्देह,

दुर्बलता और जाति-सुलभ ईर्ष्या-द्वेष का परित्याग कर इस महायुगचक्र-प्रवर्तन में सहायक बनो।”

भगवान् कृष्ण ने गीता में अर्जुन से कहा—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

अर्थात् सम्पूर्ण धर्मों को, कर्तव्यकर्मों को मुझमें त्याग कर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमेश्वर की ही शरण में आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

यहाँ यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि आज सब धर्मों का समन्वित रूप ही नई सदी में सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक उन्नति के लिए लोक-हितकारी ‘धर्म’ के रूप में प्रतिष्ठित हो सकता है, जो हमें हिंसात्मक प्रवृत्ति से बचाने में सक्षम होगा और यह भगवान् रामकृष्ण परमहंस की ‘शरण’ में जाने से, यानी सर्वभाव-समन्वय, साधन तथा भक्ति से ही सिद्ध होगा। उनकी जयन्ती पर यह ‘समभाव सुमन’ उन्हीं के चरणों में समर्पित है—“त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।”

शताब्दियों से सहिष्णुता हमारे समाज की एक विशिष्ट एवं उल्लेखनीय परम्परा सह प्रवृत्ति रही है। अनेकता, विविधता तथा विचित्रता के बावजूद समन्वय की धारा भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्राणतत्त्व रही है। भेद में अभेद, बहुत्व में एकत्व, खण्ड में अखण्ड (अद्वैत) का दर्शन ही भारतीय दर्शन की विशिष्टता रही है। **आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति, समोऽहं सर्वभूतेषु, सर्वत्र समबुद्धयः, समः सर्वेषु भूतेषु** आदि चिन्तन भारतीय संस्कृति की आत्मा रहे हैं।

अपने-अपने वैशिष्ट्य को सुरक्षित रखते हुए समन्वय के सूत्र में बँधे रहने के कारण सभ्यता की प्राणसत्ता सुरक्षित रही है। यही कारण है कि महान् शायर इकबाल के शब्द “कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी” सार्थक होते रहे। विश्वकवि

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस सारभूत तत्त्व को पहचाना था, तभी उन्होंने कहा था—“यहाँ के ऋषियों ने ‘ब्रह्म ही सत्य है’ घोषित किया—ईश्वर है कहाँ? इसी ज्ञान के चलते तमाम विविधताओं के बावजूद इसके अन्तःकरण में समन्वय की धारा—ऐक्य की भावना बहती रही है। अभेद दर्शन ब्रह्मज्ञानी ही कर सकते हैं—“ज्ञानम् अभेददर्शनम्।”

भारत को ज्ञानभूमि कहा गया है। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है कि ज्ञान सबसे पवित्र है—“न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् इह विद्यते।” भारतीय संस्कृति में आत्मानुभूति की उपलब्धि को श्रेष्ठ माना गया है। विश्व के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध और एक मनुष्य का अन्यान्य मनुष्यों के साथ प्रेमसूत्र में बँधने का मूलमन्त्र आत्मज्ञान ही है। यहाँ की संस्कृति ‘मानव-संस्कृति’ रही है—मनुष्य के मनुष्यत्व की। तभी यहाँ के ऋषियों के कण्ठ से यह वाणी प्रस्फुटित हुई—**‘पुरुषात् न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।’**

शिकागो में सन् १८६३ में आयोजित धर्म-सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—“हम लोग न केवल सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता में विश्वास करते, वरन् सब धर्मों को सच्चा मानकर स्वीकार करते हैं। भारत ने विश्व को सहिष्णुता तथा सार्वभौमिक स्वीकृति दोनों की ही शिक्षा दी है।” मानवता को ज्ञात सभी बड़े धर्म और तार्किक प्रणालियाँ, ईसाई मत, यहूदी धर्म, इस्लाम से लेकर (हिन्दू और बौद्ध धर्म के रास्ते होते हुए) कंप्यूटिसियस और ताओ धर्म हमारी पृथ्वी के इसी भाग में जनमे थे। इसी भूमि की आध्यात्मिक ऊर्जा विश्व में विलीन हो विश्व के संकटकालीन क्षणों में प्रकाशवान् ऊर्जा बनकर प्रेरणा देती रही है। ज्ञान और विज्ञान का भी समन्वय होता रहा है। ऋग्वैदिक काल के ऋषि के उद्घोषमन्त्र—**“आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः”**—के अनुरूप ही।

इसी विलय को ध्यान में रखकर महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा था— “आओ तुम आर्य लोगो! आओ तुम अनार्यलोगो!अपने दिलों को शुद्ध करो और बाकी सब लोगों के हाथ थाम लो।”

भारतीय सभ्यता में सहिष्णुता की गहरी जड़ें जमा हुई हैं। यहाँ पन्थ-निरपेक्ष सूफी सन्तों से लेकर सम्राट् अशोक और अकबर तक सभी ने सांस्कृतिक मूल्यों और सामूहिक चेतना को अपने प्रयासों से समृद्ध किया। इस कड़ी में कबीर, गुरु नानक, स्वामी विवेकानन्द तथा महात्मा गांधी के नाम उल्लेखनीय हैं। सामाजिक सहिष्णुता एवं आध्यात्मिक उदारवादी चिन्तन भारतीय सभ्यता के बुनियादी घटों में प्रमुख हैं और सर्वव्यापी भी।

इतिहास के आरम्भ से ही यहाँ के चिन्तकों ने “**वसुधैव कुटुम्बकम्**” – अर्थात् सम्पूर्ण मानवता के लिए सद्भावना की विचारधारा को ही मूलवर्ती धारा बनाकर रखा। महान् फ्रांसीसी साहित्यकार रोमा-रोला के शब्दों में— “इसकी गरम मिट्टी से दिव्य दृष्टि का विशाल महातरु विकसित हुआ। हजारों शाखाएँ तथा करोड़ों प्रशाखाएँ, जिनके अन्दर एक ही प्राणरस प्रवाहित हो रहा है, पर उसका सारतत्त्व और विचार आपस में घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं।”

महान् इतिहासविद् अर्नाल्ड टायनबी ने कहा था— “महान् इतिहास के इस अत्यन्त भयावह क्षण में केवल भारतीय विचारधारा ही मानव जाति की मुक्ति का एकमात्र मार्ग है। इसमें इस प्रकार की भावना और रुझान है कि पूरी मानव जाति को ‘एक कुटुम्ब’ के रूप में विकसित करना सम्भव हो सकता है। आज के इस अणु-परमाणु के युग में अपने विनाश से बचने का यही एकमात्र विकल्प है।” उन्होंने यह भी कहा था—

“... In an Atomic age the whole human race has utilitarian motive for following Indian way.... The Survival of human race is at stake. Yet even the strongest and the most

respectable utilitarian motive is only a secondary reason for taking Ram Krishna's and Gandhi's as Ashoka's teachings to heart and acting on it. The Primary reason is that this teaching is right.... and is right because it flows from a true vision of spiritual reality....” (Arnold Toynabee)

डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भी कहा था—

“We have developed nuclear instruments to the highest extent. But ethically we are dwarfs and have nuclear geniuses.... We are afraid of one another and are living in an atomsphere of distrust and fear.... If we are true to ourselves, if we are true to the great ideals which we have been announced from the time of Upnisads and Budha down to Sri Ram Krishna & Gandhi and if we are able to stand by them, come what may, it will be possible for us to help the world to settle down. ...They belong to the Church of God, the one Universal father on whom we all depend. It is such a Universal concept which we have to recapture for our own age today, if we want to live as citizens of one world, we must Co-operate and Co-exist, if we are not to distroy ourselves. ...It the attitude and faith of one Universal God dominates our mind and hearts, we way be released from fear and afflictions and become nearer to human hope of a Universal society-- where we can live as brothers and sisters. India's historic mission has been to forege unity among differant races of men, different religious beliefs, not by obliterating them but by harmonising them. ...”

If we dedicate ourselves for building a new world order free form every trace of hatred, intolerance and fanaticism of every variety, then we must move forward and move together with “the spirit of this land” - which has existed form the time of Rig Veda till today i.e. the days of Ram Krishna Paramhans and Gandhi:-

“सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।”

“समानं मन्त्रम् अभिमन्त्रये वः समानेन वः हविषा जुहोमि।”

“समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।”

“समानम् अस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।”

आज साम्प्रदायिक हठधर्मिता, बीभत्स धर्मान्धता सर्वत्र व्याप्त है— मानवता रक्तरंजित है— सभ्यता विध्वस्त हो रही है। बीभत्स दानवी ताण्डव का साम्राज्य व्याप्त है। उत्पीड़न है, पारस्परिक कटुता चरम रूप में फैल रही है। स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो धर्मसंसद् में ऐसी स्थितियों का गम्भीर मूल्यांकन करते हुए धर्म में ‘समन्वय’ के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा था— “एकता किसी एक धर्म की विजय और बाकी धर्मों के विनाश से सिद्ध नहीं होगी, न ही धर्म-परिवर्तन से। प्रत्येक को चाहिए कि वह दूसरों के सारभाग को आत्मसात् करके पुष्टिलाभ करे और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए निजी नियम के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो। शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी सम्प्रदाय-विशेष की निजी सम्पत्ति नहीं है। प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ एवं उन्नत चरित्रवाले स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया है। यदि ऐसा कोई स्वप्न देखे कि अन्यान्य सारे धर्म नष्ट हो जाएँगे और केवल उसका धर्म ही जीवित रहेगा तो मुझे उसपर दया आती है और मैं यह स्पष्ट बताए देता हूँ कि शीघ्र ही सारे प्रतिरोधों के बावजूद प्रत्येक धर्म की पताका पर लिखा रहेगा— “सहायता करो, लड़ो मत”, “परभाव-ग्रहण न कि परभाव-विनाश”, “समन्वय और शक्ति, न कि मतभेद और कलह।”

महाभारत में भगवान् वेदव्यास ने कर्णपर्व में कहा है— **बहून् यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्। अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः।।**— अर्थात् “जो बहुत-से लोगों को पीड़ा पहुँचाए, बलपूर्वक जिसे लोगों को मानने को विवश किया जाए, वास्तव में उसे धर्म नहीं कहा जा सकता, वह

तो कुधर्म है, अधर्म है— हे सत्य विक्रम! जो धर्म अविरोधी है, किसी को हानि नहीं पहुँचाता, किसी की मान्यता पर आघात नहीं करता, वही सच्चा धर्म है।”

धर्म वस्तुतः हमारी अन्तःप्रकृति है, जिसके द्वारा हम विकसित होते हैं। इस समग्र आध्यात्मिक जीवन-व्यवस्था के व्यावहारिक रूप में हम विभिन्न सम्प्रदायों— कंफ्यूसियस, शिन्तो, हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, जरथुस्त्री, यहूदी आदि को देखते हैं, लेकिन सबों के अन्दर एक सूत्र है, यानी सभी धर्मों के बीच आधारभूत एकता है। आध्यात्मिकता और नैतिक सदाचरण ही सबका आधार है। इस दृष्टि से सभी धर्मों की ‘आत्मा’ एक है। पन्थ और सम्प्रदाय भले ही घरौंदे हों, परन्तु धर्म तो अनन्त सागर है। विराट् का उद्घोषक है। ऋग्वेद में कहा गया है— **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।** हम सब एक ही आध्यात्मिक सत्ता का अंश होने के कारण **अमृतस्य पुत्राः** हैं— विशाल कुटुम्ब के सदस्य हैं— **वसुधैव-भूमि** ही हमारी माता है और हम उसकी सन्तान हैं— **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।**

हिंसा, आतंक, असहिष्णुता, सन्देह, असन्तोष व अबाध भोग के वातावरण से बचने के लिए अहं का विसर्जन और **आत्मवत् सर्वभूतेषु** या आत्मौपम्य दृष्टि की आवश्यकता है। विकृतियों से मुक्ति के लिए आज धर्मों में समन्वय, सद्भाव एवं समत्व की जरूरत है। समन्वय का अर्थ है— ‘स्व’ का विस्तार— प्रेम, करुणा और मैत्री का विस्तार। समभाव है धर्म। आत्मा-आत्मा में समत्वभाव ही धर्म है। विकृतियों से मुक्त होने के लिए सद्भाव एवं समन्वय ही मार्ग है। जहाँ समन्वय का भाव है, वहीं धर्म की ज्योति प्रज्वलित रहती है। हिंसात्मक प्रवृत्ति का अन्त समन्वय से ही सम्भव है। इसलिए ‘धर्म-विचार-दर्शन’ में ‘समभाव’ दृष्टिकोण ही शुद्ध है— सात्त्विक है। मनुष्य-मनुष्य के बीच में आत्मौपम्य भाव को संवर्द्धित करने से

लेकर विश्वव्यापी प्रभाव में विश्वशान्ति के लिए उपर्युक्त मार्ग 'समन्वय' का ही है, अतः 'स्व-पर-भेद' के नाश से ही **लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु** का मार्ग प्रशस्त होगा। सम्राट् अशोक के शिलालेखों में सर्वधर्म-समभाव की उत्कृष्टता की झलक मिलती है; यथा— “जो अपने धर्म की प्रशंसा और दूसरे के धर्म की निन्दा करते हैं, वे वस्तुतः अपने धर्म का ही निरादर करते हैं। श्रेष्ठता तो यह है कि सभी धर्मों के प्रति समादार का भाव हो।”

धर्म में समन्वय की भावना ही उत्कृष्ट है। इस्लाम मजहब के मामले में किसी भी प्रकार की जबरदस्ती के खिलाफ है। पवित्र कुरान शरीफ में कहा गया है— ला इक राह फिदिनी (सुरा-२, आयत-२५६)। एक अन्य स्थान पर भी इस पवित्र धर्मग्रन्थ में पैगम्बर को सम्बोधित करते कहा है— “और तेरा सब (प्रभु) चाहता तो धरती में जितने लोग हैं, सबके सब ईमान ले आते, फिर क्या तू लोगों को विवश करेगा कि वे ईमानवाले हो जाएँ।” (१०.२५६)

विदित है कि कभी राष्ट्रपिता गांधी ने कहा था— “यदि मनुष्य अपने धर्म के हृदय तक पहुँच जाए तो वह स्वतः अन्य धर्मों के हृदय तक पहुँचेगा।” सभी धर्म वस्तुतः समभाव की भाषा है। सबके मूल में प्रेम, करुणा और दया की भावना है। सबों की आत्मा एक है। गांधीजी ने कहा था— “सत्य ही ईश्वर है। उन तक पहुँच के लिए धर्म एक माध्यम है।” उनका प्रिय भजन था— “**दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।**”

महान् दार्शनिक डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने कहा था— “सम्पूर्ण विश्व परस्पर टकराव और असहिष्णुता-जैसी हठधर्मी प्रवृत्तियों के प्रभाव से आक्रान्त एवं क्षत-विक्षत हुआ है। पन्थ और विचारधारा-विशेष ने मानवता को अपने ढंग से

संचालित करने का प्रयास किया है। धर्म और राजनीति ने अपने अतिरिक्त अन्य जीवन-दर्शन के प्रति आक्रामक रुख अपनाया है। उन्मादपूर्ण व्यवहारों के कारण धर्म की आत्मा विनष्ट हुई है। मानवता को धार्मिक उन्माद के राजनीतीकरण से मुक्त कराकर ही नई मानवीय सहिष्णु सभ्यता का शिलान्यास सम्भव है।मानव-जाति के समक्ष दो विकल्प हैं— प्रथम, परस्पर प्रेम, भाईचारा एवं सहयोग के वातावरण को चुनना और द्वितीय, भय संशय एवं परस्पर ईर्ष्या में जीना। धर्म एवं मानव जाति का भविष्य उसके द्वारा चुने गए विकल्प पर ही निर्भर करता है। हमें सोचना होगा कि परस्पर समन्वय एवं सहमति के भाव से ही मानव जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना सम्भव है। सम्राट् अशोक का सद्विचार है— **समवाय एव साधुः** अर्थात् धर्म में समवाय ही शुद्ध दृष्टिकोण है।”

स्पष्टतः भारतीय दृष्टिकोण में सारे धर्मों का निचोड़ एक है। सारे धर्म दैहिक, दैविक तथा भौतिक तापों से मुक्ति की कामना करते हैं। शान्ति की कामना भारतीयता की असली पहचान रही है अर्थात् “सभी सुखी हों, हम एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें।” नई सदी में हमारी प्रार्थना सुख-शान्ति और समन्वय की होगी; यथा—

**सह नावतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।।**

ॐ शान्तिः।।

अर्थात् “हम सब परस्पर एक दूसरे से मिलकर धर्म, राष्ट्र, संस्कृति एवं विश्व की रक्षा करें। हम सब मिलकर त्याग-पूर्वक भोग करें, साथ-साथ मिलकर पराक्रम करें, हमारा अधीत तेजस्वी हो तथा किसी भी प्रकार के द्वेष से बचें, तभी विश्व में शान्ति, सद्भाव का वातावरण होगा—**सा मा शान्तिरेधि।**”

बी०-६२, पी०सी० कालोनी,
लोहियानगर, पटना-८०० ०२०



बन्धन-दायक है आसुरी सम्पत्ति

□ गोपालजी

‘द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।’ इस सृष्टि में दो प्रकार के प्राणी उत्पन्न हुआ करते हैं, एक दैव और दूसरे आसुर। मनुष्यों में भी दैव और आसुर होते हैं। जो मनुष्य दैवी सम्पदाप्राप्त होते हैं वे दैव की श्रेणी में आते हैं। जो आसुरी सम्पदाप्राप्त होते हैं, वे आसुर कहे जाते हैं। दैवी सम्पदा या आसुर सम्पदा कोई स्थूल सम्पदा नहीं है। यह प्रकृति है, प्रवृत्ति है; गुण है, जिसके कारण मनुष्य दैवी और आसुरी प्रकृति के हो जाते हैं।

गीता में भगवान् कृष्ण ने दैवी सम्पदाप्राप्त मनुष्य के छब्बीस गुणों का उल्लेख करते हुए अर्जुन को दैवी सम्पदाप्राप्त मनुष्य की संज्ञा दी है। इस सम्पदा के जिन छब्बीस गुणों का उल्लेख किया गया है, वे हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं हीरचापलम् ।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ।।

(गीता : १६.१-३)

अर्थात् अभय, शुद्ध सात्त्विक वृत्ति, ज्ञानयोग, व्यवस्थिति अर्थात् ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग के तारतम्य से कार्य की व्यवस्था करना, दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग (फलासक्ति का त्याग), शान्ति, अपैशुन्य (क्षुद्र दृष्टि छोड़कर उदार भाव रखना), सब भूतों पर दया, अलोलुपता, मृदुता, शालीनता, अचपलता (बेकार कामों से दूर रहना), तेजस्विता, क्षमा, धृति (चित्त में क्षोभ के समय धैर्य बनाए

रखना), शुद्धता, द्रोह न करना, अतिमान न रखना-ये गुण दैवी सम्पत्तिप्राप्त मनुष्यों के हैं।

निर्भयत्व सभी सद्गुणों का नायक है। यहाँ जिन छब्बीस गुणों का उल्लेख है, इनमें दो महान् गुणों— निर्भयता और नम्रता के बीच में चौबीस गुण रखे गए हैं। निर्भयता और नम्रता से सभी चौबीस गुण मनुष्य की प्रकृति में सुरक्षित रहते हैं और इनको खोने का भय नहीं रहता है। निर्भयता से ही प्रगति होती है और नम्रता से अहंकार नहीं पनपने पाता। स्पष्ट है, दैवी सम्पदाप्राप्त व्यक्ति में मनुष्योचित सभी गुण विद्यमान रहते हैं। ये गुण सत्संगति से बढ़ते हैं।

सामाजिक व्यवस्था के साथ सतत अन्तःक्रिया होने से मनुष्य के अन्तःकरण में दैवी और आसुरी वृत्तियों के बीच निरन्तर युद्ध चलता रहता है। इनमें जो वृत्तियाँ प्रबल होती हैं, वे विजयी होती हैं।

अगर हम प्राचीन ग्रन्थों पर दृष्टिपात करें तो यह पाएँगे कि युगों से दैव और आसुर के बीच संग्राम चलता आ रहा है— पाण्डव और कौरव का महाभारत युद्ध, इन्द्र और वृत्रासुर का युद्ध आदि के रूप में अनेक उदाहरण मिलते हैं। ये सभी युद्ध दैवी और आसुरी वृत्तियों के बीच के द्वन्द्व हैं। जब आसुरी वृत्ति बढ़ जाती है, तब अनाचार बढ़ता है; क्योंकि आसुरी सम्पदायुक्त मनुष्यों को न तो प्रवृत्तिमार्ग की जानकारी रहती है और न निवृत्तिमार्ग की। उनमें शुचित्व तो स्वप्न में भी देखने को नहीं मिलता। शास्त्रोक्त कर्मों का आचरण करना वे नहीं जानते।

आसुर जन स्वेच्छाचारी होते हैं। सत्य से तो सदा उन्हें वैर ही रहता है। वे सारे संसार को झूठ

समझते हैं और उसे बिना किसी आधार के और बिना परमेश्वर के मानते हैं। इसे केवल विषय-भोग का हेतु समझते हैं। आसुर लोग झूठे अहंकार, दर्प और अभिमान के वशीभूत रहते हैं तथा क्रोध के परायण होकर क्रूरता से भरे रहते हैं। उनमें ज्ञान का अभाव रहता है, फलस्वरूप परिवर्तनशील और क्षणभंगुर देहासक्ति में पड़े-पड़े देहाभिमान करते हैं तथा सैकड़ों आशाओं से घिरी हुई कामनाओं की चाहत से अन्यायपूर्वक धनसंग्रह में लगे रहते हैं।

अपरिमित चिन्ताओं में डूबे हुए वे भविष्य में केवल धनसंग्रह को ही मुख्य उद्देश्य मानते हैं। दूसरों के प्राणों का घात कर द्रव्य प्राप्त करते हैं और इस प्रकार द्रव्य मिलने पर वे समझते हैं कि हम ही सबसे बलवान् हैं; धनवान् हैं। उनसे बढ़कर कोई नहीं है। वे सदैव अनेक मनोरथ पालते रहते हैं। ज्यों-ज्यों मोह बढ़ता है, त्यों-त्यों विषयासक्ति बढ़ती जाती है। वे आप ही निज को श्रेष्ठ समझकर असामान्य गर्व से फूलते हैं। इस स्थिति में जब उनके शरीर का लय होता है, तब आसुरी वृत्तियों के कारण क्रूर योनि में जन्म लेते हैं।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।

(गीता : १६.२०)

क्रूर योनि; यथा— सर्प, व्याघ्र आदि हैं। इस योनि में भी वे अच्छा से नहीं रह पाते। भूख से बिलबिलाते हैं और इससे भी अधम गति को प्राप्त करते हैं।

अतः मनुष्य को हमेशा दैवी सम्पत्ति प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए और आसुरी सम्पत्ति छोड़नी चाहिए। यह सम्पत्ति सतत अभ्यास, मनोनिग्रह और बुद्धियोग से प्राप्त की जा सकती है। बुद्धियोग का अर्थ है व्यवसायात्मिका बुद्धि, आत्मनिष्ठावाली बुद्धि। जिस बुद्धि से शास्त्र को प्रमाण मानकर, उसका विधान समझकर उसके अनुसार कार्य में प्रवृत्ति जगे और सभी प्राणियों में एक ही आत्मभाव का दर्शन हो, वही बुद्धियोग है। इसका सहारा लेकर

काम, क्रोध और लोभ पर विजय प्राप्त किया जा सकता है।

काम क्रोध और लोभ को नरक का द्वार कहा गया है। इसी से आसुरी वृत्तियाँ पैदा होती हैं। काम, क्रोध और लोभ इन तीनों का बल जहाँ विशेष बढ़ा हुआ हो, वहाँ अशुभ का उदय होना निश्चित है। इन तीनों का होना ही हानि है। विषयों की आशा रखने से मनुष्य क्रोधाग्नि के अधीन हो जाता है। काम और क्रोध दोनों घातक हैं। ये मनुष्य में रजोगुण के कारण उत्पन्न होते हैं और मनुष्य के ज्ञान को ढक लेते हैं। इससे संगदोष उत्पन्न हो जाता है। संगदोष से कामनाओं की बाढ़ आ जाती है। यह दुष्पूरित होता है। यह बलात् मनुष्य को पाप की ओर ठकेल देता है। असन्तोष बढ़ता चला जाता है। सुख का नाम मिट जाता है और अन्तःकरण में त्रिविध ताप उत्पन्न हो जाते हैं। अतः पहले इन दोनों (काम-क्रोधों) को जीतना चाहिए, तब ज्ञान प्रकट होता है।

ज्ञान प्रकट होने से राग-द्वेष का नाश हो जाता है। राग-द्वेष का नाश होने से इन्द्रिय-निग्रह हो जाता है और 'वसुधैवकुटुम्बकम्' रूपी दृष्टि हो जाती है। बुद्धि निष्काम होकर साम्यावस्था में पहुँच जाती है। समत्व पूर्ण बुद्धि से अक्षय सुख और शान्ति प्राप्त होती है, क्योंकि इससे मनुष्य में कर्तृत्व का अभिमान उत्पन्न नहीं होता। मनुष्य अपना कर्म लोकसंग्रह को ध्यान में रखकर करता रहता है। ज्ञान-रूपी नेत्र से सारा जगत् उसे ठीक-ठीक दिखाई देता है। आसक्तियों से शून्य होकर वह संसार में समस्त सत्कर्मों का और सदाचारों का ठीक-ठीक पालन करता हुआ में विचरण करता है और परमपद को प्राप्त करता है।

ए-४, आफिसर्स फ्लैट,

न्यू पुनाईचक,

पटना, ८०० ०२३



विश्वविख्यात विचारकों की दृष्टि में हिन्दुस्तान और हिन्दुत्व

□ डा० भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता

संसार भर के विचारकों ने प्राचीन भारत अर्थात् हिन्दुस्तान के विचारों का लोहा माना है। उनके अनुसार हिन्दू-जीवनदर्शन मानवता का पथ-प्रदर्शक रहा है। समग्र विश्व हिन्दुत्व एवं हिन्दुस्तान के महनीय विचारों से चमत्कृत है। आज के सन्दर्भ में उनके उद्गार हीन ग्रन्थियों से ग्रस्त एवं आंग्ल-विद्यानुयायी आज के तरुणों की आँखें खोलने में सहायक हैं।

विश्वप्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन ने हृदय से उपकृत होकर कहा था— “हम भारत के बहुत ऋणी हैं, जिसने हमें गिनती सिखाई; जिसके बिना कोई भी सार्थक वैज्ञानिक खोज सम्भव नहीं हो पाती।”

मार्क ट्वेन ने भाव-विभोर होकर कहा था— “भारत उपासना-पथों की भूमि, मानवजाति का पालना, भाषा की जन्मभूमि, इतिहास की माता, पुराणों की दादी एवं परम्पराओं की परदादी है। मनुष्य के इतिहास में जो भी मूल्यवान् एवं सृजनशील सामग्री है, उसका भण्डार अकेले भारत में है। यह ऐसी भूमि है, जिसके दर्शन के लिए सब लालायित रहते हैं। और एक बार उसकी हल्की-सी झलक मिल जाए तो दुनिया के अन्य सारे दृश्यों के बदले में भी वे उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं होंगे।”

फ्रांसीसी विद्वान् रोमां रोलां का मानना था कि मानव ने आदिकाल से जो सपने देखने शुरू किए, उनके साकार होने का इस धरती पर कोई स्थान है तो वह है भारत।

अमेरिका में चीन के भूतपूर्व राजदूत हू शिह ने इस कठोर सत्य को स्वीकार करते हुए कहा था—

“सीमा पर एक भी सैनिक न भेजते हुए भारत ने बीस सदियों तक सांस्कृतिक धरातल पर चीन को जीता और उसे प्रभावित किया।”

मैक्मूलर तो वैदिक संस्कृति के भक्त ही थे। उन्होंने यहाँ तक कहा कि यदि मुझसे कोई पूछे कि किस आकाश के तले मानव-मन अपने अनमोल उपहारों समेत पूर्णतया विकसित हुआ है, जहाँ जीवन की जटिल समस्याओं का गहन विश्लेषण हुआ है और समाधान भी प्रस्तुत किया गया, जो उसकी भी प्रशंसा का पात्र हुआ है, जिन्होंने प्लेटो एवं कांट का अध्ययन किया तो मैं भारत का नाम लूँगा। यदि कोई मुझसे पूछे कि वह कौन-सा साहित्य है, जिससे हम यूरोपीय लोग (जो आज तक केवल ग्रीक, रोम और यहूदी विचारों पर पाले-पोसे गए हैं) उन उत्तुंग विचारों को प्राप्त कर सकते हैं, जो हमारे आन्तरिक जीवन को अधिक परिपूर्ण, अधिक वैश्विक और सही अर्थों में मानवीय बनाने के लिए नितान्त आवश्यक हैं; जो केवल इस जीवन के लिए ही नहीं, अपितु देशान्तर और शाश्वत जीवन के लिए भी आवश्यक हैं तो मैं पुनः भारत की ओर ही इंगित करूँगा।

बिल ड्यूरॉंट हिन्दू-मनीषा के कायल ही थे। उनके मतानुसार हमारे आक्रमण, उद्वण्डता एवं लूट-पाट के बदले भारत हमें सिखाएगा सहिष्णुता और परिपक्व मन की मृदुता तथा अजेय आत्मा का निश्छल सन्तोष, सामंजस्य, भावना की शीतलता तथा प्राणिमात्र से एकरूपता-युक्त शान्तिप्रद स्नेह।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार आर्नाल्ड जोसेफ टायनबी का मन्तव्य था— “मानव जाति के इतिहास के अति भयानक काल में सम्राट् अशोक, रामकृष्ण परमहंस और महात्मा गांधी द्वारा बताया हुआ प्राचीन भारत का मार्ग ही उद्धार का एकमात्र मार्ग है। इसमें वह दृष्टिकोण और भावना है, जिससे मानव जाति को एक परिवार के रूप में विकास करना सम्भव होगा एवं इस परमाणु युग में यही एकमात्र मार्ग है, जो हमें नष्ट होने से बचा सकता है।”

अब तक उपलब्ध विश्व के सबसे प्राचीन वैदिक साहित्य के प्रधान अंग उपनिषदों की श्रेष्ठता पर अर्थर शोपेनहावर ने स्वीकार किया कि विश्व भर में ऐसा कोई अध्ययन नहीं है, जो उपनिषदों जितना हितकारी और उदात्त हो। यही मेरे जीवन को शान्ति देता रहा है और यही मृत्यु में भी शान्ति देगा।

प्रसिद्ध यूरोपीय चिन्तक हेनरी डेविड थोरे का उद्गार है— “वेदों का जो सार मैंने पढ़ा है, वह मेरे लिए अत्युच्च और अतिशुद्ध ज्योतिर्मय पिण्ड के प्रकाश-जैसा है, जो उन्नत मार्ग को बिना किसी जटिलता के सरल और सार्वभौम तरीके से समझाता है। वह मेरे लिए तारों-भरी रात्रि में सुदूर आकाश से आनेवाले चन्द्रमा के प्रकाश-जैसा है।”

गीता की महनीयता के विषय में उन्होंने कहा था— “प्रातःकाल मैं अपनी बुद्धिमत्ता को अपूर्व और ब्रह्माण्ड-व्यापी गीता के तत्त्वज्ञान से स्नान कराता हूँ, जिसकी तुलना में हमारा आधुनिक विश्व और उसका साहित्य अत्यन्त क्षुद्र एवं तुच्छ जान पड़ता है।”

भारत के प्रथम ब्रिटिश गवर्नर वारेन हेस्टिंग्स ने इस सच्चाई को स्वीकार किया कि भारत में गीता-जैसे तत्त्वज्ञान के सन्देश तब भी जीवित रहेंगे, जब अँगरेजों के साम्राज्य का अस्तित्व भारत से बहुत पहले ही नष्ट हो चुका होगा।

सुप्रसिद्ध अँगरेजी साहित्यकार हाल्फ वाल्हो इमर्सन ने हिन्दू धर्मग्रन्थों पर अपनी आस्था प्रकट करते हुए कहा है— “मौलिक एकात्मता की अवधारणा पर चिन्तन सभी देशों में होता है। प्रार्थना से प्राप्त तन्मयता और भक्ति से प्राप्त परमानन्द सबसे तादात्म्य की अनुभूति देता है। वेद, गीता, विष्णुपुराण—जैसे हिन्दू-धर्मग्रन्थों में इसी भाव की सर्वोच्च अभिव्यक्ति प्रकट होती है।” ‘गीता’ पर उन्होंने कहा— “मैं भगवद्गीता का अत्यन्त ऋणी हूँ। यह पहला ग्रन्थ है, जिसे पढ़कर मुझे लगा कि किसी विराट् शक्ति से हमारा संवाद हो रहा है। इसमें क्षुद्रता और अनुपयुक्ता से परे, उच्चतम प्रज्ञा की स्पष्ट, शीतल, तर्कशुद्ध ध्वनि है, जिसका हुंकार बीते युग एवं माहौल के होते हुए भी वर्तमान समस्याओं का निदान एवं उपाय बताने में पूरी तरह सक्षम है।”

विदुषी एवं स्वतन्त्रता-सेनानी श्रीमती एनी बेसेन्ट ने भारत एवं हिन्दुत्व पर गौरवपूर्ण चिन्तन प्रकट किया है— “विश्व के पश्चात् मैं इस नतीजे पर पहुँची हूँ कि हिन्दुत्व-जैसा परिपूर्ण, वैज्ञानिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक धर्म और कोई नहीं। इसमें कोई भूल न करे कि बिना हिन्दुत्व के भारत का कोई भविष्य नहीं। हिन्दुत्व ऐसी भूमि है, जिसमें भारत की जड़ें गहराई तक पहुँची हैं, उन्हें यदि उखाड़ा गया तो यह महावृक्ष निश्चय ही अपनी भूमि में उखड़ जाएगा। हिन्दू ही यदि हिन्दुत्व की रक्षा नहीं करेंगे तो और कौन करेगा? अगर भारत के सपूत हिन्दुत्व में विश्वास नहीं करेंगे तो कौन उनकी रक्षा करेगा? भारत ही भारत की रक्षा करेगा। भारत और हिन्दुत्व एक ही है।”

अँगरेजी भाषा के महान् लेखक आलडस हक्सले ने गीता पर आस्था प्रकट करते हुए कहा— “स्थायी दर्शन का सुस्पष्ट एवं सार है गीता। अतः इसका चिरन्तन महत्त्व तथा मूल्य ने न केवल भारतीयों के लिए, अपितु समूची मानवजाति के लिए है।”

विल्हन वान हम्बोल्ट ने भी उनका प्रतिपादन करते हुए कहा— “गीता एक अत्यन्त सुन्दर और सम्भवतः एकमात्र सच्चा दार्शनिक गीत है, जो किसी अन्य भाषा में नहीं। वह एक ऐसी गहन एवं उन्नत वस्तु है, जिसपर सारी दुनिया गर्व कर सकती है।”

विश्व के सबसे कम आयु के नोबुल पुरस्कार-विजेता फ्रांसीसी विद्वान् प्रो० ब्रायन डेविड जोसेफसन ने अभिव्यक्ति इस प्रकार दी है— “वेदान्त और सांख्य में मन और विचार-प्रणाली क्वांटम फील्ड अर्थात् परमाणु और आणविक स्तर पर कणों की क्रिया और वितरण के लिए कुंजी है।”

सुप्रसिद्ध न्यायवेत्ता नाना पालखीवाला ने घोषणा की कि हमारे प्राचीन मनीषियों ने ब्रह्म अर्थात् अन्तिम सत्य के बारे में जो कहा है, वह वैसा ही है, जैसा हमारे आज के महान् वैज्ञानिक भौतिक पदार्थ के पहेलीनुमा गुणधर्म के बारे में सोचते हैं। विज्ञान जितना आगे बढ़ता है उतना वह वेदान्त के समीप जाता है। ऐसी है हमारी महान् विरासत और फिर भी हम क्षणिक तुच्छ विषयों में उलझे रहने के कारण उसकी ओर यदा-कदा ही जाते हैं।

विश्वविख्यात वायलिन वादक यहूदी मेन्यूहिन ने भी हिन्दुत्व की महत्ता इन शब्दों में व्यक्त की है—

“एक औसत पश्चिमी व्यक्ति से एक हिन्दू सौगुना अधिक परिष्कृत, अधिक सुसंस्कृत, अधिक प्रामाणिक, अधिक धार्मिक और अधिक सन्तुलित है।”

विश्व धर्म-सम्मेलन (शिकागो) में हिन्दुत्व का परचम लहरानेवाले स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुत्व की अमरता इन शब्दों में प्रतिपादित की है— “हिन्दुत्व में भारत की जीवन-शक्ति विद्यमान है और जब तक हिन्दू जाति अपने पूर्वजों की विरासत को नहीं भूलती, तब तक धरती की कोई भी शक्ति उसे नष्ट नहीं कर सकती।”

महान् स्वतन्त्रता-सेनानी तथा सत्य और अहिंसा के पुजारी महात्मा गांधी ने कहा है— “हिन्दुत्व सत्य की चिरन्तन खोज का नाम है और आज यदि वह मृतप्राय, अप्रगतिशील दिखाई पड़ता है तो मात्र इसलिए कि हम थके हुए हैं। जैसे ही यह थकावट दूर होगी, विश्व के समक्ष अकल्पनीय तेजस्विता से हिन्दुत्व का विस्फोट होगा।”

पो०- मटियारी,

द्वारा- बलुआ बाजार,

जि०- सुपौल (बिहार)-८५४३३६



भ्रातः कांचनलेपगोपितबहिस्ताम्राकृते सर्वतो

मा भैषीः कलशास्थिरो भव चिरं देवालयस्योपरि।

ताम्रत्वं गतमेव कांचनमयी कीर्तिः स्थिरा तेऽधुना

नान्तस्तत्त्वविचारण-प्रणयिनो लोका बहिर्बुद्धयः।।

भाई ताम्रकलश! तुझे डरने की आवश्यकता नहीं। तू देवमन्दिर के ऊपर चिरकाल तक डटा रह। क्योंकि तेरे ऊपर सोने का मुलम्मा चढ़ जाने के कारण तू बाहर से सुवर्णमय हो गया है। अब तेरी ताम्रता समाप्त हो गई और तेरा नाम स्वर्णकलश के रूप में विख्यात हो चुका है। अरे भाई! लोग आन्तरिक गुणों पर विचार नहीं करते; वे तो बाह्य सौन्दर्य पर ही मुग्ध होते हैं।

सद्धर्म, स्वातन्त्र्य, स्वदेश-सेवा

आकाश गूँजे रण-वाद्य नाद से, सोत्साह वीरत्व प्रवाह हो पड़े।
उड़ें ध्वजा अंकित आर्यनीति से, 'सद्धर्म, स्वातन्त्र्य, स्वदेश-सेवा' ॥
हिले मही, दिग्गजवृन्द डोलें, ससैन्य हिन्दू हम युद्ध को चलें।
उड़े ध्वजा आर्य-सुनीति अंकिता : 'सद्धर्म, स्वातन्त्र्य, स्वदेश-सेवा' ॥
स्वाधीनता भारत की अखण्ड हो हिन्दुत्व का गौरव विश्वव्याप्त हो।
सगर्व धारें हम युद्धमन्त्र ये 'सद्धर्म, स्वातन्त्र्य, स्वदेश सेवा' ॥
घमण्ड पापी रिपुवृन्द का दलें, छली बली का हम गर्व तोड़ दें।
सुना उन्हें दें शुभ शान्तिशिक्षा, 'सद्धर्म, स्वातन्त्र्य, स्वदेश-सेवा' ॥
अन्याय हिंसा व्यभिचार पाप को, हिन्दू कभी देख नहीं सकेंगे।
स्वप्राण देंगे कह बन्धु-त्राण में, 'सद्धर्म, स्वातन्त्र्य, स्वदेश-सेवा' ॥
वीरत्व, बन्धुत्व, गुरुत्व तत्त्व के, महत्त्व के सत्त्व प्रभुत्व उच्चता।
हमें करेंगे विजयी त्रिलोक में, 'सद्धर्म, स्वातन्त्र्य, स्वदेश-सेवा' ॥
कभी हमारी इस जन्मभूमि को, भूलें न भाई हम स्वप्न में भी।
हो आर्यभू गौरव की शिरोमणि, 'सद्धर्म, स्वातन्त्र्य, स्वदेश-सेवा' ॥
स्वबन्धुओं को, निज जन्मभूमि को, आँखें दिखाए, वह कौन नीच है।
जाते उसे यों हम रौंद डालें, 'सद्धर्म, स्वातन्त्र्य, स्वदेश-सेवा' ॥
स्वभूप की या निज रूप-वेश की, कहीं जरा भी अवमानना हो।
तो हिन्दुओ! दौड़ पड़ो पुकारते : 'सद्धर्म, स्वातन्त्र्य, स्वदेश-सेवा' ॥
स्वजाति को या निज मित्र देश को, पीड़ा कहीं दे यदि शत्रु पातकी।
हुंकार आर्यों! कर खड्ग खींच लो, 'सद्धर्म, स्वातन्त्र्य, स्वदेश-सेवा' ॥
त्रैलोक्य में कीट-पतंगपुंज भी, न कष्ट पाएँ पड़ क्रूर हाथ में।
वीरो! सुना दो शुभ आर्यगान यों 'सद्धर्म, स्वातन्त्र्य, स्वदेश-सेवा' ॥
संसार में हो न अनीति लेश भी, स्वतन्त्र सारे नर-नारि हों सुखी।
गाएँ मिला कंठ, सुआर्य-गान यों, 'सद्धर्म, स्वातन्त्र्य, स्वदेश-सेवा' ॥
मनुष्य सारे सम हैं, न भेद है, न दुर्बलों को हम दास-सा लखें।
मनुष्यता दे उनको सिखा दें : 'सद्धर्म, स्वातन्त्र्य, स्वदेश-सेवा' ॥
विगर्हणा हो न मनुष्य जाति की, प्राणी न कोई भय कष्ट में पड़े।
गाओ अनोखा रणगान हिन्दुओ! 'सद्धर्म, स्वातन्त्र्य, स्वदेश-सेवा' ॥
जै राम जै कृष्ण प्रताप वीरता, जै न्याय की, जै शुभ सत्य की सदा।
जैगान गाएँ हम शान्ति-शक्ति की 'सद्धर्म, स्वातन्त्र्य, स्वदेश-सेवा' ॥

— माखनलाल चतुर्वेदी

संस्कारों के लौकिक एवं पारलौकिक महत्त्व

□ डा० रामविलास चौधरी

सभी सांसारिक प्राणी सुख की कामना करते हैं। उनमें मनुष्य न केवल लौकिक जीवन में अपितु पारलौकिक जीवन में भी सुख की अभिलाषा से सत्कर्म में प्रवृत्त होते हैं। सुख का दूसरा नाम आनन्द है। जैसा कि अमरकोश में कहा गया है—

“मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसम्पदाः ।

स्यादानन्दथुरानन्दः शर्मशातसुखानि च ॥”

(अमरकोश : १.४.२५)

‘आनन्द’ का विवरण उपनिषदों में भी आया है। ‘तैत्तिरीयोपनिषद्’ के अनुसार एक बार भृगु ऋषि पिता के उपदेश पर गहराई से विचार करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आनन्द ही ब्रह्म है—

“आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्”

(तैत्तिरीयोपनिषद् : ३.६)

इतना ही नहीं, इस आनन्द-स्वरूप ब्रह्म से ही समस्त भूतों की उत्पत्ति, स्थिति और संहति (संहार) का ज्ञान भी उन्हें हुआ—

“आनन्दाद्ब्रह्मेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।

आनन्देन जातानि जीवन्ति।

आनन्दं प्रन्त्याभिसंविशन्तीति।”

(तैत्तिरीयोपनिषद् : ३.६)

अर्थात् आनन्द से ही ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होकर आनन्द से ही जीते हैं तथा इस लोक से प्रयाण करते हुए अन्त में आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं।

उस आनन्द की महत्ता बताते हुए कहते हैं—

‘आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।’

अर्थात् परब्रह्म परमात्मा के उस आनन्द-स्वरूप को जाननेवाला महापुरुष कभी किसी से भय नहीं करता, सर्वथा निर्भय हो जाता है।

ऐश्वर्य की कामना करनेवाले व्यक्ति के लिए भय से मुक्त होना आवश्यक है। जैसा कि हितोपदेश में कहा गया है—

षड्दोषा पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।

निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥

प्रकृति से उत्पन्न सभी पदार्थ अपने गुण एवं दोषों से युक्त रहते हैं। जैसे सोने से बने आभूषण सुवर्ण-तत्त्व युक्त ही होते हैं, न कि रजत आदि के तत्त्वों से संवलित, इसी प्रकार मिट्टी से निर्मित घड़े आदि में मृत्-तत्त्व से युक्त ही रहते हैं। सत्त्व, रज और तमोगुण की समान अवस्था ही प्रकृति कही जाती है। सामाजिक क्रिया-कलापों में तमोगुण दुःखकारी होने से दोष माना जाता है, जबकि सत्त्वगुण सुखकारक होने से गुण की श्रेणी में आता है। गुण-दोष-मिश्रित प्राकृतिक तत्त्वों से दोष का निवारण कर उसमें गुण का आधान या ग्रहण करने का निर्देश देते हुए महामना गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

जड़ चेतन गुणदोषमय विस्व कीन्ह करतार।

सन्त हंस गुण गहहिं पय परिहरि वारि बिकार।।

(मानस : १.६)

सृष्टि की चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण के चक्र से गुजरता हुआ जीव सुख-दुःख का अनुभव प्राप्त कर अपने महान् पुण्य-प्रभाव के कारण मनुष्य-योनि में पहुँचता है। अतः मानव-जीवन को अत्यन्त श्रेष्ठ और दुर्लभ कहा गया है—

‘नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।’

पुनश्च,

‘सब ते दुर्लभ मनुज-सरीरा।’

मनुष्य ही अपनी तपस्या, साधना एवं सत्कर्म के प्रभाव से चतुर्विध पुरुषार्थ— धर्म, अर्थ, काम

और मोक्ष का अधिकारी होता है, जिनके लिए भारतीय परम्परा में संस्कारों का विधान किया गया है। इन संस्कारों में भी मनुष्य का ही अधिकार होता है।

‘सम्’ पूर्वक ‘कृ’ ‘धातु से’ ‘घञ्’ प्रत्यय करने पर भूषण अर्थ में सुट् (स्) का आगम होने से ‘संस्कार’ शब्द निष्पन्न होता है, इस शब्द का प्रयोग संस्कृत वाङ्मय में अनेक अर्थों में होता है। मीमांसा-दर्शन के आचार्य यज्ञ के अंगीभूत पुरोडाश आदि की शुद्धि में इस शब्द का प्रयोग करते हैं। अद्वैत वेदान्त के आचार्य जीवपरक शारीरिक क्रियाओं में मिथ्या आरोप को संस्कार कहते हैं—

‘स्नानाचमनादिजन्याः संस्कारा देहे उत्पद्यमानानि तदभिधानानि जीवे कल्पन्ते।’

(वाचस्पत्यम्)

तर्कसंग्रह में ‘स्मृति’ का लक्षण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि संस्कार मात्र से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान ही स्मृति है—

‘संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।’

प्रसिद्ध स्मृतिकार मनु ने लौकिक एवं पारलौकिक कृत्यों के सम्पादन हेतु शरीर के संस्कार पर जोर दिया है—

कार्यः शरीर-संस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च।

(मनुस्मृति : २.२६)

महाकवि कालिदास ने भी अपने ग्रन्थों में ‘संस्कार’ का अनेक स्थलों पर उल्लेख कर उसके सम्पादन का निर्देश दिया है। उनके अनुसार कुमार रघु के जन्म के बाद वसिष्ठ मुनि वन से आकर जब उनका जातकर्म आदि संस्कार करते हैं, तब वे कुमार संस्कार हो जाने पर वैसे ही दीप्तिमान् होने लगे; जैसे खान से निकलकर खरादा हुआ हीरा चमकने लगता है—

“स जातकर्मण्यखिले तपस्विना

तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते।

दिलीपसूनुर्माणिराकरोद्भवः

प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ।।”

(रघुवंश : ३.१८)

आदिकवि वाल्मीकि राम एवं भरत आदि चारों भाइयों के जातकर्म तथा नामकरण आदि संस्कारों के सम्पादित होने का उल्लेख अपने ग्रन्थ ‘रामायण’ में करते हैं (१.१८.२१-२४)। गोस्वामी तुलसीदासजी राम आदि भाइयों के जन्म के बाद नान्दीमुख श्राद्ध एवं जातकर्म संस्कार का वर्णन करते हैं—

नन्दीमुख सराध करि जातकर्म सब कीन्ह।

हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह।।

(मानस : १.१६३)

इस प्रकार ‘संस्कार’ शब्द का अभिप्राय है धार्मिक कर्मों में शुद्धि के सम्पादन के लिए और व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक परिष्कार के लिए कर्तव्य के अनुष्ठान-विषयक कर्मों का आचरण करना। ‘संस्कार’ शब्द के साथ विलक्षण अर्थों का योग है, जो दीर्घ काल से इतिहासक्रम में संयुक्त हुआ। संक्षेप में; संस्कार के विधिपूर्वक अनुष्ठान से संस्कारित व्यक्ति में चिरसंचित दोषों के निराकरण-पूर्वक विलक्षण गुणों का प्रादुर्भाव होता है, जिससे संस्कारित व्यक्ति समाज के लिए सर्वथा उपयोगी होता है।

विद्वानों में यह भी विचारणीय प्रश्न रहा है कि यह संस्कार शरीर का होता है या आत्मा का? कुछ विद्वानों की मान्यता है कि इस शरीर में चार प्रकार की आत्माएँ हैं— शरीरात्मा, अन्तरात्मा, स्वभावात्मा और विशुद्धात्मा। उनमें शरीरात्मा के दोषों के निराकरण और गुणों के आधान के लिए जिस प्रकार आयुर्वेदशास्त्र है, उसी प्रकार अन्तरात्मा के दोष-निवारण और गुण-ग्रहण के लिए धर्मशास्त्र हैं। शरीरात्मा का अन्तरात्मा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिसके कारण एक में विकार आने से दूसरा भी विकृत हो जाता है। इसलिए आयुर्वेदशास्त्र में भी जैसे अन्तरात्मा के संस्कार की अपेक्षा है, उसी तरह धर्मशास्त्र में भी शुद्धि-प्रकरण में शरीरात्मा के संस्कार की अपेक्षा है।

इस प्रकार शरीरात्मा भौतिक शरीर का अधिष्ठाता है, इसलिए भौतिक पुरुषार्थ यानी 'अर्थ' में लोगों की सहज प्रवृत्ति होती है। अन्तरात्मा (जीवात्मा) अन्तःकरण का अधिष्ठाता है। इस कारण आधिदैविक तत्त्व के साथ सम्पर्क होने से आधिदैविक पुरुषार्थ 'धर्म' में लोगों की प्रवृत्ति जगती है। दोनों आत्माओं के विधिवत् संस्कार होने पर परस्पर अनुकूलता का सम्बन्ध होता है।

उस आधिदैविक आत्मा (जीवात्मा) के अनुशासन में शरीरात्मा के आने पर धर्मानुकूल अर्थ में दोनों की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार से धर्म-विरुद्ध अर्थप्राप्ति से हटकर धर्मानुकूल अर्थप्राप्ति में ही रुचि जगती है। यही आत्मा का स्वभाव कहा जाता है।

जब स्वभावात्मा अधर्म के परित्याग के कारण धर्मात्मक कार्य में ही प्रवृत्त होता है, तब सभी कामनाओं की पूर्ति इच्छामात्र से सम्पन्न हो जाती है। इस प्रकार तृतीय पुरुषार्थ काम की प्राप्ति होने पर भी निष्काम होता स्वभावात्मा विशुद्धात्मा के साथ अभेद स्थापित कर चिदानन्द-रूप चरम पुरुषार्थ मोक्ष के मार्ग पर पहुँचता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शरीर से अवच्छिन्न जीवात्मा के साक्षात् या परम्परया परम उपकारक गर्भाधान आदि संस्कारों से मण्डित होने पर मृत्यु नामक बन्धन से मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्याऽमृतमश्नुते।।

अर्थात् विद्यारूप आत्मज्ञान एवं अविद्यारूप कर्म— इन दोनों को जो एक साथ ठीक तरह से जानता है, दूसरे शब्दों में कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड को एकीकृत करके अविद्यारूप कर्मकाण्ड के द्वारा मृत्यु को पार करता हुआ जीव कृत्यकृत होकर विद्यारूप ब्रह्मज्ञान के माध्यम से अमृतत्व या मोक्षतत्त्व को प्राप्त करता है।

कर्म और ज्ञान-दोनों के तत्त्व को एक साथ समझनेवाला व्यक्ति अपने वर्णाश्रम और परिस्थिति

के अनुरूप शास्त्रविहित कर्मों का स्वरूपतः त्याग नहीं करता, बल्कि उनमें कर्तृत्व के अभिमान से तथा राग-द्वेष और फलकामना से रहित होकर उनका आचरण करता है। ऐसा करने से उसका अन्तःकरण समस्त दुर्गुणों और विकारों से रहित होकर अत्यन्त निर्मल हो जाता है तथा भगवत्कृपा से वह मृत्युमय संसार से सहज ही मुक्त हो जाता है।

इस कर्मसाधना के साथ-ही-साथ विवेक वैराग्य से सम्पन्न होकर निरन्तर ब्रह्म-विचार-रूप ज्ञानाभ्यास करते रहने से उस परम तत्त्व के यथार्थ ज्ञान का उदय होता है और जीवात्मा शीघ्र ही परब्रह्म को साक्षात् प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार मानव-जीवन में अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि के लिए यथानिर्दिष्ट संस्कारों का सम्पादन आवश्यक है। इनके सम्यक् आचरण से पुरुषार्थ-चतुष्टय का मार्ग प्रशस्त होता है। इससे न केवल व्यक्ति, अपितु समाज और राष्ट्र का भी कल्याण होता है और उनकी अभ्युन्नति होती है, क्योंकि व्यक्तियों का समूह ही समाज है तथा समाज से राष्ट्र का निर्माण होता है।

धर्मशास्त्रों में षोडश संस्कारों का वर्णन है। वे हैं— गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास और अन्त्येष्टि।

इनमें से कुछ ही संस्कार समाज में सामान्यतया प्रचलित हैं। और वे भी सनातनी परम्परा के लोगों में। विवाह और अन्त्येष्टि— ये दोनों कार्य सभी परिवारों, समाजों और धर्मों में अपनी विधि से आयोजित किए जाते हैं। विवाह को कानूनी मान्यता भी मिली हुई। जबकि अन्त्येष्टि के निबन्धन की व्यवस्था सरकारी तौर पर की जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारतीय परम्परा में इन संस्कारों का विधान रहा है। इनके पालन से व्यक्तियों में

आत्मविश्वास, तेजस्विता, उत्साह एवं स्वाभिमान का प्रादुर्भाव होता है। ऐसे लोगों में चरित्र का महान् बल एवं सम्बल होता है तथा समाज में उनकी प्रतिष्ठा होती है। संस्कारित लोग देश एवं समाज के लिए हित-चिन्तन करते हैं। ऐसे योग्य नागरिकों से देश की अभ्युन्नति होती है।

इस तरह समाज एवं राष्ट्र के लिए संस्कार महान् उपकारक होता है। अतः सभी को श्रद्धापूर्वक सविधि संस्कार का सम्पादन करना चाहिए।

बिहार नेशनल कालेज
पटना।



बिल्वाष्टकम्

त्रिदलं त्रिगुणाकारं त्रिनेत्रं चैव त्र्यायुधम् । त्रिजन्मपापसंहारं बिल्वपत्रं शिवार्पणम् ॥

तीन दलोंवाला, सत्त्व, रज एवं तमोगुण-रूप, सूर्य, चन्द्रमा एवं अग्नि-रूपी तीन नेत्रोंवाला, आयुधत्रय-स्वरूप तथा तीन जन्मों के पापों को दूर करनेवाला बिल्वपत्र शिव को अर्पित है।

त्रिशाखैर्बिल्वपत्रैश्च ह्यच्छिद्रैः कोमलैः शुभैः । शिवपूजां करिष्यामि बिल्वपत्रं शिवार्पणम् ॥

छिद्ररहित, कोमल, कल्याणप्रद तीन शाखाओं से युक्त बिल्वपत्र से शिव की पूजा करूँगा। (यह) बिल्वपत्र शिव को समर्पित है।

अखण्ड-बिल्वपत्रेण पूजिते नन्दिकेश्वरे । शुद्ध्यन्ति सर्वपापेभ्यो बिल्वपत्रं शिवार्पणम् ॥

अखण्ड बिल्वपत्र से नन्दिकेश्वर की पूजा करने पर (मनुष्य) सभी पापों से मुक्त हो जाता है। बिल्वपत्र शिव को अर्पित है।

शालग्रामशिलामेकां विप्राणां जातु अर्पयेत् । सोमयज्ञमहापुण्यं बिल्वपत्रं शिवार्पणम् ॥

कदाचित् विप्रों को शालग्राम शिला के दान से जो फल मिलता है तथा सोमयज्ञ का जो फल होता है, वह फल प्रदान करनेवाला बिल्वपत्र शिव को समर्पित है।

दन्तिकोटिसहस्राणि वाजपेयशतानि च । कोटिकन्यामहादानं बिल्वपत्रं शिवार्पणम् ॥

खरबों हाथीदान, सैकड़ों वाजपेय यज्ञ तथा करोड़ों कन्यादान-जैसे महादान का फल प्रदान करनेवाला बिल्वपत्र शिव को अर्पित है।

लक्ष्म्याः स्तनत उत्पन्नं महादेवस्य च प्रियम् । बिल्ववृक्षं प्रयच्छामि बिल्वपत्रं शिवार्पणम् ॥

लक्ष्मीजी के स्तन से उत्पन्न तथा महादेवजी को प्रिय बिल्ववृक्ष समर्पित करता हूँ। बिल्वपत्र शिव को अर्पित है।

दर्शनं बिल्ववृक्षस्य स्पर्शनं पापनाशनम् । अघोरपापसंहारं बिल्वपत्रं शिवार्पणम् ॥

बिल्ववृक्ष के दर्शन एवं स्पर्श पापनाशक हैं। यह शिव के प्रति किए अपराध को दूर करनेवाला है। बिल्वपत्र शिव को अर्पित है।

मूलतो ब्रह्मरूपाय मध्यतो विष्णुरूपिणे । अग्रतः शिवरूपाय बिल्वपत्रं शिवार्पणम् ॥

बिल्ववृक्ष का मूलभाग ब्रह्मा का रूप है, मध्य भाग विष्णु का तथा अग्रभाग शिव का रूप है; (ऐसा) बिल्वपत्र शिव को अर्पित है।

बिल्वाष्टकमिदं पुण्यं यः पठेत् शिवसन्निधौ । सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवलोकमवाप्नुयात् ॥

इस पुण्यप्रद बिल्वाष्टक का जो (व्यक्ति) शिव के समक्ष पाठ करता है, वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है। बिल्वपत्र को अर्पित है।



कबीर साहब की संवेदनशीलता

□ आचार्य सूर्यदत्त शास्त्री 'रक्ताभ'

यह निर्विवाद है कि कबीर साहब ने अपना न तो कोई पन्थ चलाया था और न कोई सम्प्रदाय। उनकी काव्योक्तियों से मालूम होता है कि उन्होंने मुख्यतः अन्तस् में उद्वेलित भाव-संग्लिष्ट उपलब्धियों को ही प्रश्रय दिया है। उन्होंने तात्कालिक सामाजिक बुराइयों की नब्ब पकड़ रखी थी, जिनपर उन्होंने जोरदार प्रहार किया। यही कारण रहा कि लोगों ने उन्हें समाज-सुधारक सन्त माना। उनके अध्येताओं ने उन्हें अक्खड़, निर्भीक, बेधड़क, दो टूक कहनेवाले, निरपेक्ष, कर्मठ, कर्मयोगी, धर्मपथ के पथिक, परम दार्शनिक एवं चिन्तक कवि की कोटि में मान्यता दी है।

दार्शनिक क्षेत्र में उन्होंने परम्परागत निर्गुण तत्त्व को अपनी कसौटी पर परखा और जो बातें उपयुक्त लगीं, उन्हें स्वीकार किया। वे लकीर के फकीर नहीं थे, इसलिए परम्परागत सोच-समझवाले पण्डितों और पुरोहितों पर चोट की। उन्होंने केवल हिन्दुओं के अन्धानुकरण को ही नहीं कोसा, बल्कि मुसलमानों के साथ भी वैसा ही व्यवहार किया।

सन्त कबीर का आविर्भाव एक ऐसे माहौल में हुआ, जब देश में दो विरोधी धर्मों एवं संस्कृतियों का व्यापक आधिपत्य था। दोनों ही अर्थात् हिन्दू और मुसलमान पारम्परिक लीक के गतानुगतिक थे। हिन्दू लोग युगों-युगों से आ रही बहुजन-सेवित अपनी परम्परा पर दृढ़ थे। यह परम्परा वैदिक व सनातनी थी, जिसके द्वैत-अद्वैत सिद्धान्तों पर आधारित नैतिकता एवं आध्यात्मिकता की वेगवती धारा में चिर कालिक बहाव के कारण बहुतेरे

कूड़े-कचरे भी प्रवाहित थे; फिर भी धर्मभीरु, धर्म-प्राण जनता उसमें अवगाहन कर सन्तुष्टि का अनुभव करती थी।

दूसरी ओर आक्रामक रूप में आए हुए वैदेशिक धर्मानुयायी यवन-जाति के लोग अपनी सबल सेना के बल पर सत्ता और शासन के माध्यम से जोर-जबरदस्ती के साथ प्रसारोन्मुख थे।

ऐसे समय में प्रादुर्भूत सन्त कबीर ने दोनों धर्मावलम्बियों में जो खामियाँ देखीं, उनपर भीषण कुठाराघात किया और उन्हें उचित दिशा-निर्देश किया। उन्होंने किसी को अपने पीछे चलने को नहीं कहा, पर उनके बाद तो उनके अनुयायियों ने उनके नाम से पन्थ ही चला दिया; जिसे आज कबीर-पन्थ कहते हैं।

कबीर के समय में ही लोग उनके प्रखर विचारों से प्रभावित होने लगे थे। लोग सँभलने लगे थे और समाज में सुधार की प्रवृत्ति बढ़ी थी।

परम्पराओं की खामियों को आँकनेवाले कबीर साहब वास्तव में वैष्णव आचार्य श्री रामानन्द के शिष्य थे। वे सनातनधर्मी सभी मान्यताओं को सदा मानते रहे। दैनिक जीवन के उनके सारे आचरण वैदिक अर्थात् सनातन-धर्मानुसार ही रहे। वे जुलाहे द्वारा पाले-पोसे गए थे और उसी वातावरण में उनकी जीवनयात्रा ढलनी थी, पर उनका संस्कार ही बदल गया था। घरेलू कार्यों का सम्पादन करते हुए भी वे नित्य नियमपूर्वक स्नान, पूजा-पाठ, जप-तप सब करते थे, पर सैद्धान्तिक रूप में उन्होंने निराकार तत्त्व को मान्यता दे रखी थी।

हिन्दू अथवा मुसलिम धर्म से वे नफरत नहीं करते थे, वे तो उनकी बुराइयों पर ही आघात करते थे। इसलिए हिन्दुओं के साथ-साथ मुसलमान उनके अनुयायी हो गए थे। चूँकि मुसलिम धर्म भी निराकारी विचारों का ही पोषक है, इसलिए कबीर के मत को स्वीकारने में उन्हें एतराज नहीं था। दूसरी ओर हिन्दुओं ने योग्यता, क्षमता एवं बौद्धिक स्तर के अनुसार अवस्था-भेद से निराकार एवं साकार दोनों सिद्धान्तों को मान्यता दी है। अतः हिन्दू भी उनके अनुयायी हो गए।

कबीर साहब राम और अल्लाह को निराकार ही मानते रहे। अयोध्या के राम और मक्का के मुहम्मद साहब उनकी दृष्टि में परम तत्त्व नहीं थे। वे दृढ़ आस्था से आत्मदर्शी और निराकारवादी थे। उन्होंने ईश्वर का स्थान व स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है—

ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चकमक में आग।

तेरा साईं तुझ में, जाग सकै तो जाग।।

कबीर ने उपासना के क्षेत्र में भजन-सुमिरन को बहुत महत्त्व दिया है। उन्होंने नीचे लिखे पद में उक्त विचारों की पुष्टि करते हुए रामनाम का विशेष महत्त्व दिया है—

कोई ध्यावे निराकार को कोई ध्यावै साकार।

वह तो इन दोउन से न्यारा, जाने जानन हारा।।

कबीर के राम 'दशरथस्यापत्यं पुमान् दाशरथिः' नहीं हैं, बल्कि 'रमन्ते योगिनः यस्मिन् स रामः' हैं। वे कहते हैं—

कहै कबीर विचार कै झूठा लोहू चाम।

जो या देही रहित है सो है रमता राम।।

उन्होंने रामनाम के पतित-पावन स्वरूप की चर्चा के साथ सदा स्मरण करने का निर्देश करते हुए कहा है—

रामनाम के सुमिरते उधरे पतित अनेक।

कह कबीर नहिं छाड़िये, रामनाम की टेक।।

यह सब उनका दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। पर इससे हटकर उनकी मनःस्थिति एवं गहन साहित्यिक सम्बेदनशीलता को देखें तो उनकी हिन्दू और मुसलमान दोनों के प्रति खीझ, रोष और उलहनाभरी फटकार दिखाई पड़ती है। इसका कारण है, उनके जीवन की सामाजिक उपेक्षाएँ। उनके जन्म की उपेक्षा, उनके कर्म की उपेक्षा, उनकी जाति, समाज की उपेक्षा; जिन्होंने उनकी अन्तरंग वृत्ति को, प्रवृत्ति को और उपलब्धि को रुक्ष बना दिया।

कबीर साहब के साहित्य से उनके स्वभाव की रुक्षता, खरतरता एवं कटु आलोचना की प्रवृत्ति, दो टूक बातें, बेधड़क कह देना, समाज के मुखिया व्यक्तित्वों पर व्यंग्यबाण का प्रहार करना, उन्हें अपनी तकों और युक्तियों से हेय एवं असत्य मार्ग पर ले चलनेवाला बताना इत्यादि उनकी अपमानित मनोवृत्ति की ही परिणति थी। यह सब उन उपेक्षित कारणों की प्रतिक्रियात्मक वृत्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

उनकी उक्तियों से ऐसा मालूम होता है कि वे जीवन की विभिन्न उपेक्षाओं से उद्वेलित हो रोष में ही रहते थे; क्योंकि उनकी सारी उक्तियाँ व्यंग्यबाणों का जखीरा है। साधारणतः जो सन्त-हृदय होगा, वह इस तरह चोट पहुचानेवाली बातें, चाहे सत्य ही क्यों न हों, नहीं करेगा। सन्त का हृदय मक्खन के समान माना गया है— **सन्त हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारिविकार**, पर अपने नैतिक आचरणों के फलक पर खड़े रहनेवाले महात्मा कबीर समाज की भलाई की दृष्टि से इस तरह की बातें बोलते हैं।

कबीर साहब ने जो कुछ कहा है, इससे साबित होता है कि वे एक प्रतिक्रियावादी दार्शनिक चिन्तक एवं महात्मा थे। फिर भी उनकी श्रेमुषी, उनकी मेधा— बुद्धि, स्मृति तीक्ष्ण और उर्वर थी। कुछ दैवी संस्कार था कि भारतीय वाङ्मय के सारे दार्शनिक आध्यात्मिक पहलुओं के तत्त्वों की जानकारी

हिन्दीसेवी विदेशी सन्त : डा० कामिल बुल्के

□ परमानन्द दोषी

अपनी पुरातन सभ्यता और संस्कृति की विशेषताओं के कारण अति प्राचीन काल से ही भारत विदेशियों को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है। सुदूर देशों से अनेक यात्री यहाँ आते रहे हैं और अपने संस्मरणों एवं यात्रा-वृत्तान्तों के रूप में इस देश के वैभव और ऐश्वर्य की अनेक उद्बोधक-उत्प्रेरक गाथाएँ प्रस्तुत करते रहे हैं। उनमें से अधिकांश एक छोटी-सी अवधि तक भारत में प्रवासी बन कर रहे और निर्दिष्ट कालावधि की परिसमाप्ति के पश्चात् पुनः अपने देश को लौट गए। ऐसे व्यक्ति भी सम्मिलित रहे हैं, जो भारत आए और सदा के लिए यहीं के होकर रह गए। ऐसे ही थोड़े से विदेशी लोगों में बेल्जियम के पादरी फादर डा० कामिल बुल्के भी एक थे, जो एक धर्मप्रचारक के रूप में अपने जीवन के शुरूआती दिनों में भारत आए और अपने जीवन की आखिरी साँस तक यहीं बने रहे।

डा० बुल्के की भाँति विदेश से अनेक धर्म-प्रचारक यहाँ आ चुके हैं, मगर वे अपने कार्य-कलापों को अपने मिशन के उद्देश्यों तक ही परिसीमित रख सके और धर्म-प्रचारक की परिधि के बाहर किसी प्रकार का कोई प्रभाव, भारतीय जन-जीवन पर छोड़ पाने में असमर्थ रहे। डा० बुल्के का आचरण और व्यवहार ठीक इसके विपरीत रहा है। वे भारत आकर पूर्णतः भारतीय बन गए और उन्होंने अपनी साधना तथा तपस्या के द्वारा भारत के लिए उतना कुछ किया, जितना उनके समान बौद्धिक स्तर का एक समान्य भारतीय भी प्रायः नहीं कर पाता।

डा० बुल्के का जन्म सितम्बर सन् १६०६ ई० में बेल्जियम देश के वेस्ट क्लेण्डर्स प्रान्त के

कैरेम्य चैपल नामक स्थान में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के बाद बेल्जियम के सर्वोत्कृष्ट विश्वविद्यालय लुवेन में प्रविष्ट हुए, जहाँ से अभियन्त्रण शास्त्र की स्नातक-परीक्षा में उत्तीर्णता अर्जित की। कैथलिक की संस्था जिसिविट संघ में सन् १६३० ई० में उन्होंने प्रवेश किया। इस संस्था में प्रवेश पानेवालों के लिए उच्च शिक्षा, अनवरत अध्ययन और कठोर अनुशासन की अनिवार्यता थी। संस्था की शर्तों के अनुसार बुल्के साहब ने प्रारम्भिक दिनों में अपने देश में ही शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्य किया।

बाद में वे जर्मनी चले गए, जहाँ उन्होंने तीन वर्ष गुजारे। उन तीन वर्षों के दरम्यान उन्होंने दर्शनशास्त्र के गहन अध्ययन के साथ-साथ सापेक्षवाद-जैसे गहन विषय को समझ लेने के लिए गणित का भी गहरा अध्ययन किया। इन विषयों में असाधारण ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद जब वे अपनी धार्मिक संस्था के कर्णधारों के सम्मुख उपस्थित हुए तो संस्थागत नियमों के अधीन उन्हें किसी पूर्ववर्ती देश में जाकर अध्यापन-कार्य सम्पन्न करने का आदेश हुआ। दर्शनशास्त्र के अध्ययन के क्रम में उन्हें भारतीय दर्शन पर भी दृष्टि डालनी पड़ी थी और तब से ही भारतीय दर्शन की विशिष्टताओं की ओर बुल्के साहब का विशेष आकर्षण बना हुआ था; इस कारण मिशन के आदेश की रक्षा के लिए उन्होंने भारत को ही चुना।

भारत के प्रति उनके आकर्षण का एक अन्य कारण यह भी था कि वे अपने अध्ययन के क्रम में महाभारत, रामायण-जैसे महाकाव्यों के कारण यहाँ की साहित्यिक सम्पदा से भी बेहद

प्रभावित थे। भगवान् राम और उनके अनन्य उपासक भक्त-शिरोमणि तुलसी के देश के भ्रमण-दर्शन के लिए उनकी आत्मा बेहद व्यग्र थी।

मिशन के निर्देशों के अनुसार उन्हें अध्ययन-कार्य करना था, इसलिए भारत आते ही उन्होंने दार्जिलिंग से इस कार्य को प्ररम्भ किया। बाद में बिहार के गुमला नामक स्थान चले गए। भारत में आने पर हिन्दी के प्रति उनकी जिज्ञासा उत्पन्न हुई, उनका अनुराग बढ़ा। अध्यापन के साथ-साथ उन्होंने हिन्दी का स्वतः अध्ययन करना प्रारम्भ किया। हिन्दी जानने के लिए देवभाषा संस्कृत, जो विश्व की प्रायः समस्त भाषाओं की जननी मानी जाती है, जानना उन्होंने आवश्यक समझा। अतएव गुमला से किर्सियांग चले गए, जहाँ वे न केवल संस्कृत सीखने में समर्थ हो सके, बल्कि चार वर्षों के अनवरत और कठोर अध्ययन के द्वारा भारतीय धर्मशास्त्रों की बारीकियों से अवगत हुए। भारतीय धर्मशास्त्रों में निष्णात होने के फलस्वरूप बुल्के साहब को सम्बन्धित मिशनरी ने पुरोहित का दर्जा दे दिया।

सन् १९४० ई० में उन्होंने विशारद की परीक्षा और उसके तुरन्त बाद कलकत्ता विश्वविद्यालय से एक विषय के रूप में संस्कृत लेकर बी०ए० की परीक्षा पास की। संस्कृत और हिन्दी के प्रति अपने बढ़ते अनुराग और आकर्षण को मूर्त रूप देने के लिए उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय की एम०ए० कक्षा में प्रवेश लिया और सन् १९४५ ई० में वहाँ से हिन्दी लेकर एम०ए० कर लिया। इलाहाबाद में वे हिन्दी के दिग्गज विद्वानों के सम्पर्क में आए और उन लोगों की प्रेरणा से 'रामकथा: उद्भव और विकास' विषय पर शोध करना शुरू कर दिया, जिसपर उन्हें इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा डी०फिल० की उपाधि प्रदान की गई।

फादर कामिल बुल्के अब डा० फादर कामिल बुल्के बन चुके थे। शीघ्र ही उनकी की नियुक्ति

राँची-स्थित सेन्ट जेवियर्स कालेज के हिन्दी प्राध्यापक के पद पर हुई और तब से अवकाश-ग्रहण तक वे राँची ही में बने रहे।

राँची में रहकर उन्होंने केवल अध्ययन-कार्य तक ही अपने को सीमित नहीं रखा, बल्कि कई ग्रन्थों की रचना भी की। वैसे उनके द्वारा रचित छोटी-बड़ी पुस्तकों की संख्या लगभग दर्जन भर है, फिर भी उनमें जो उल्लेखनीय हैं वे हैं, उनका शोध प्रबन्ध 'रामकथा: उद्भव और विकास' (जिसे इलाहाबाद विश्वविद्यालय की हिन्दी परिषद् ने प्रकाशित किया है, प्रकाश में आते ही बेहद लोकप्रिय हुई), जर्मन नाटककार की सुप्रसिद्ध नाट्यकृति 'ब्लूबर्ड' का 'नीलपंछी' के नाम से हिन्दी-रूपान्तर, (जिसे बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने प्रकाशित किया है।) अँगरेजी-हिन्दी-शब्दकोश, मुक्तिदाता, सन्त लुकस के अनुसार यीशु ख्रिस्त का पवित्र सुसमाचार तथा दि हिन्दी साल्टर।

इनके अतिरिक्त डा० बुल्के की अधूरी कई कृतियाँ भी हैं। उनके द्वारा लिखे फुटकर निबन्धों की संख्या भी कम नहीं। वे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के अनेक पृष्ठों-पन्नों पर बिखरे पड़े हैं।

इनकी कृतियों में रामकथा विषयक-पुस्तक का विशिष्ट महत्त्व है। इस पुस्तक की विद्वत्-समाज और सन्त-समुदायो ने यथेष्ट सहारना की है। इसी प्रकार बुल्के साहब का अँगरेजी-हिन्दी-कोश भी काफी लोकप्रिय हुआ। बाइबिल के 'ओल्ड टेस्टामेंट' का प्रमाणिक हिन्दी अनुवाद लोगों के लिए सुलभ हो, इस उद्देश्य से उन्होंने उसका अनुवाद-कार्य लगभग पूरा कर लिया था। अँगरेजी हिन्दीकोश के एक संक्षिप्त संस्करण के प्रस्तुतीकरण की उनकी योजना पूरी नहीं हो सकी। इसी प्रकार रामभक्त सन्तशिरोमणि तुलसीदास के सम्बन्ध में भी वे बहुत कुछ लिखने की इच्छा रखते थे।

डा० बुल्के के निर्देशन में अनेक शोधार्थियों ने थ्रेसिसें लिख-लिखकर डाक्टरेट हासिल की थी। वे फ्लेमिश, फ्रेंच, लैटिन, अँगरेजी, संस्कृत और हिन्दी के अधिकारी विद्वान् थे। इन समस्त भाषाओं में अपनी मातृभाषा फ्लेमिश से भी बढ़कर बुल्के

साहब हिन्दी को अपने हृदय में स्थान देते थे और हिन्दी को ही अपनी मातृभाषा कहा करते थे। हिन्दीभाषा और साहित्य की असीम सम्भावनाओं पर डा० बुल्के का अटूट विश्वास था। हिन्दी को विश्वभाषा के रूप में देखने के वे प्रबल आकांक्षी थे और हिन्दी-विरोध की किसी भी बात को वे सहन नहीं कर सकते थे। इसका विकृत रूप उन्हें कतई पसन्द नहीं था। हिन्दी के सभी सेवकों को वे अतिशय सम्मान के भाव से देखते थे।

डा० बुल्के प्रान्तीय और राष्ट्रीय स्तर की कई साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थानों से सम्बद्ध थे और सर्वत्र उनके मौलिक विचारों एवं परामर्शों की कद्र हुआ करती थी। दुग्धधवल चोंगानुमा परिधान में शुभ्र स्फटिक मानव-मूर्ति के जीवन्त पर्याय थे डा० बुल्के। गौर वर्ण, कद्दावर पर्सनिलिटी, प्रशस्त ललाट, उन्नत नासिका, दाढ़ी के घने बालों से आच्छादित हरदम स्मित हास्य लिए हुए खुशनुमा चेहरा और उसपर जड़ी टिकी दो बड़ी-बड़ी खोजी आँखें; इस रूप स्वरूप में डा० बुल्के पृथ्वी पर उतर आए साक्षात् देवदूत से लगते थे। मृदुभाषिता, विनोदी स्वभाव, संक्षिप्त मुलाकात को भी स्थायी मैत्री के रूप में बदल देनेवाला उनका व्यवहार, बालसुलभ उत्कण्ठा-जिज्ञासा, उनकी सरलता-सहजता हर किसी के लिए सदैव सुलभता, बात-व्यवहार में आत्मीयता, अनौपचारिकता आदि कई दुर्लभ गुणों का सामंजस्य था उनके व्यक्तिगत में।

डा० बुल्के फादर, प्रिस्ट, और पुरोहित तो बाद में लगते थे, प्रथमदृष्ट्या उनके दर्शन से उनके सन्त-मनीषी होने का अहसास होता था। आजीवन ब्रह्मचर्य का कठोरतापूर्वक पालन करने के कारण एक विलक्षण तेजोदीप्ति से उनका मुखारविन्द आलोकित रहता था और ऊँचे संस्कार की झलक उनके हर हाव-भाव में मिला करती थी।

मात्र तिहत्तर वर्ष की आयु में १८ अगस्त, १९८२ ई० को राम के अनन्य भक्त, तुलसी के परम सेवक और हिन्दी के निष्ठावान् उपासक डा० बुल्के का स्वर्गारोहण हुआ तो उनके तिरोधान की दुःखद और दारुण व्यथा ने हिन्दी के छोटे-बड़े,

ख्यात-प्रख्यात, ज्ञात-अल्पज्ञात सभी साहित्य-सेवकों, समस्त साहित्यिक संस्थानों और सारे पत्र और साहित्यजगत् को एक साथ समान रूप से मर्माहत कर दिया।

भारत की समृद्धि में योगदान देनेवाली अनेक विदेशी विभूतियाँ, जिनमें परुषों के साथ महिलाएँ भी हैं, यहाँ आकर विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करती रही हैं। कांग्रेस के संस्थापक मिस्टर ह्यूम, भारत के भाषा सर्वेक्षक ग्रियर्सन, भारतीय पुरातत्त्व के जनक कनिंघम साहब, मानवविज्ञान के वेरियर महोदय, सेवा की प्रतिमूर्ति मदर टेरेसा आदि विदेशी विभूतियों के संकल्प और समर्पण, सेवा और निष्ठा, साधना और तपश्चर्या से हम सब भली-भाँति परिचित हैं और एतदर्थ उनके ऋणी भी हैं। उन्हीं अतिविशिष्ट विदेशी महापुरुषों में से एक डा० बुल्के भी थे, जिन्होंने एक विदेशी होते हुए भी हिन्दी के लिए अपना सर्वस्व होम कर दिया। जो आए थे यहाँ मिशन का निर्देश लेकर एक सीमित दायरे में धर्म और मानवता की सेवा का व्रत लेकर, मगर हिन्दी के उत्थान के लिए अपना सारा जीवन निःशेष करके हमें कृतार्थ कर गए।

हिन्दी के इस अनन्य साधक को हिन्दी की निःस्वार्थ विशिष्ट सेवा के लिए सदैव श्रद्धा और सम्मान के साथ स्मरण किया जाता रहेगा। भारत के प्राचीन आर्ष ग्रन्थों, यहाँ की पुरातन सभ्यता-संस्कृति, समस्त मानव-समुदाय को समान रूप से उत्प्रेरित, उत्फुल्ल और उद्बोधित करनेवाली धार्मिक-आध्यात्मिक स्थितियों के प्रति घोर आस्थावान् डा० बुल्के ने भारतीय उच्चादर्शों को व्यवहारिक जीवन में पूर्णतः आत्मसात् कर लिया था। ऋषियों-महर्षियों-जैसी अपनी चारित्रिक उदारता और जीवन-शैली से उन्होंने बड़ी गहनतापूर्वक भारतीय जन-समाज को प्रेरित-प्रभावित किया था। अपने इन देवदुर्लभ सद्गुणों के कारण डा० बुल्के आनेवाले ढेर दिनों तक भारतीयों के हृदय में अपना श्रद्धा-सम्पन्न स्थान बनाए रखने में समर्थ रहेंगे।

विशेष कार्य पदाधिकारी,
बिहार राज्य स० भूमि विकास बैंक,
बुद्धमार्ग, पटना-८०० ००१



भ्रूण-पंचाशिका

□ भवनाथ झा

[आज चिकित्सा-विज्ञान ने भ्रूण के लिंगज्ञान को सरल कर दिया है, जिससे पुत्रेच्छु समाज गर्भस्थ कन्या को मारकर दानवों से भी अधिक गर्हित कर्म में लिप्त हो गया है। यदि इस कुकृत्य पर रोक नहीं लगाई गई तो नारीसत्ता के अभाव में सृष्टि-प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाएगी। इसलिए भ्रूण का लिंगज्ञान पाप तथा अपराध दोनों है और सरकारी स्तर से भी उसपर प्रतिबन्ध लगाया गया है।

साहित्य कान्ता-सम्मित उपदेश की सरणि है, अतः साहित्यकारों का भी यह धर्म है कि वे इस आत्मघाती क्रूर कर्म से समाज को रोके। सुकवि श्री भवनाथ झा ने अपने लघुकाव्य 'भ्रूण-पंचाशिका' के पचास संवेदनश्रित संस्कृत पद्यों में इस तथ्य को मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। मालिनीवृत्त में निबद्ध सभी श्लोक भाव-प्रवण एवं आस्वद्य हैं। श्री झा द्वारा ही कृत हिन्दी-अनुवाद के साथ लोकहितार्थ इस काव्य को क्रमिकरूप में उपन्यस्त किया जा रहा है।-सं.]

रहसि पतिसमीपे तल्पलीना निशीथे
क्षणशयितविबुद्धा गर्भभारेण खिन्ना।
नयनसलिलधाराक्लिन्नकर्णावतंसा

कुहचिदपि निशम्य क्रन्दनं कम्पिताभूत्॥१॥

आधी रात के समय पति के साथ पलंग पर एकान्त में लेटी हुई, गर्भ के भार से व्याकुल नारी कुछ देर सोकर जग गई। उसकी आँखों से बहती हुई आँसू की धार से कान की बाली तर हो गई थी। इसी समय कहीं से रोने की आवाज सुनकर वह काँप उठी।

प्रसरति कुत एतच्छेदकं मानसस्य
निशितमिव शरणाग्रं बालशून्ये गृहेऽस्मिन्।
इति सपदि दयार्द्रा चिन्तयन्तीमुवाच
शकलितमिव वीणाध्वानतुल्यं सुकन्या॥२॥

'इस घर में एक भी बच्चा नहीं है, तब शान चढ़ाए हुए तीर की नोंक की तरह मेरे मन को बेध डालनेवाली यह रुलाई भला कहाँ से फैल रही है!' इस तरह पसीजती, सोचती हुई उस नारी से एक

लड़की कहने लगी। उसकी आवाज टूटी हुई वीणा की आवाज की तरह थी।

जननि जननि मातर्गर्भलग्ना सुताहं
नहि नहि कुलदीपो नन्दनःक्लेशहारी।
इति पितरि मदीये ज्ञापिते वैद्यकेन
विदलनचतुरेण श्व निपातो हि मे स्यात्॥३॥

"माँ! माँ!! मैं तुम्हारी कोख से लगी हुई तुम्हारी बेटी हूँ। मैं तो सभी दुःखों को दूर करनेवाला, कुल को प्रकाशित करनेवाला, आनन्द देनेवाला बेटा नहीं हूँ। डाक्टर ने जब मेरे पिताजी से यह बात कही तब गर्भपात कराने में माहिर डाक्टर मुझे कल तुम्हारी कोख से गिरा देगा।"

किसलयमिव गात्रं सूचिकाच्छिन्नमद्य
जनयति बहुकष्टं तेन संबोधितासि।
शयनसुखविखण्डं मेऽपराधं क्षमस्व
कथय कथय मातः कास्ति मे त्वदृतेऽन्या॥४॥

नई कोपल की तरह मुलायम मेरी देह में आज जो सुई चुभोई गई थी, उससे बहुत दर्द हो रहा है। इसीलिए तो मैंने तुम्हें आवाज दी। नींद तोड़कर

तुम्हें जो मैंने तकलीफ दी, उस अपराध को क्षमा कर देना। माँ! भला यह तो कहो कि तुम्हें छोड़कर मेरी दूसरी है ही कौन, जिसे मैं अपना दुखड़ा सुनाऊँ!

क्षणमिव मम रात्रेः क्षीणतां याति लोलं
सरिति पुटवहित्रे जीवनं दीपतुल्यम्।
कथनमपि मदीयं नास्ति मातः सुदीर्घं
कथय जननि मन्त्रो मे विदधः कियान् हि॥१॥

मेरा यह जीवन, जो कि नदी की धारा में पता की नाव पर रखे दीप की तरह काँप रहा है; इस रात के बीतते हुए एक-एक क्षण की तरह बीतता चला जा रहा है। माँ! मैं जो कहने जा रही हूँ, वह बात भी लम्बी नहीं है। तुम्ही कहो; माँ! मेरा सोच कितना परिपक्व है!

वचनमपि शिशूनां संकुलं सूनुतं वा
भवति नहि जनन्याः कोपबीजं कथञ्चित्।
द्रढयति मम चेतः सैव लोके प्रसिद्धिः शकलित-
पदयुक्तां श्रूयतां वाचमम्ब॥६॥

‘बच्चे की बोली चाहे सुधरी हो या अटपटी, माँ उसपर बिगड़ती नहीं— लोक में प्रसिद्ध यही बात मेरे हृदय को मजबूत कर रही है। इसलिए माँ! मेरी टूटी-फूटी बात सुनो।’

बहुविधमपि जन्मावाप्तमस्मिन् मयापि
भवजलनिधिभङ्गे नैव लब्धं सुखं यत्।
मनुजतनुभवायाः मे यदि स्यान्न लाभो
तव चरणकपांशोः का मदीया गतिः स्यात्॥७॥

माँ! मैंने इस संसार-रूपी समुद्र की लहरों में अनेक योनियों में जन्म लिया, लेकिन मुझे जो सुख पहले नहीं मिल सका; तुम्हारी चरणधूलि पाकर वह सुख यदि मनुष्य का शरीर धारण करने पर भी नहीं मिले तो भला मेरी क्या गति होगी?

अमरनगरहर्म्ये सर्वसम्पत्सामूहे
प्रभवति शिशुगीतं नैव लेखामुखेभ्यः।
श्रवणसुखमवाप्तुं तस्य मर्त्ये प्रवृत्ता
जननि जननि याचे त्वां तदेवान्तिमं हि॥८॥

स्वर्ग की अटारियाँ, जहाँ हर तरह के ऐश्वर्य भरे हुए हैं, पर देवस्त्रियों के मुँह से लोरी नहीं फूटती। उसे सुनने का सुख पाने के लिए मैं इस धरती पर आ रही हूँ, इसलिए माँ! ओ माँ!! तुमसे अन्तिम लोरी सुनाने की भीख माँग रही हूँ।

शयनमपि तवाङ्गे नास्ति भाग्येऽस्मदीये
स्थलमिव भविता मे श्वो मलाकीर्णपात्रम्।
निभृतवितलमुर्व्याः स्वापनार्थं ततः स्यात्
विगततिमिरकाले तत्र का बोधयेन्माम्॥९॥

तुम्हारी गोद में सोना भी तो मेरे भाग्य में नहीं लिखा है। मेरे लिए तो कल मैला भरा हुआ बर्तन ही मेरा स्थान होगा। उसके बाद धरती के गड्ढे की शान्त जगह मेरे लिए सेज बनेगी, लेकिन माँ! अँधेरा छटने पर वहाँ भला मुझे कौन जगाएगी!

शमयसि मम पीडामद्यपर्यन्तमम्ब
करतलयुगलेन स्पर्शयन्ती स्वकुक्षिम्।
वद मयि विलपन्त्यां श्वः प्रभृत्याकुलायां
क्षितिदरशयितायां सान्त्वनञ्च कुतः स्यात्॥१०॥

माँ! आज तक तो अपनी कोख को दोनों हाथों से सहलाकर मेरी पीड़ा मिटाती रही हो, लेकिन बोलो माँ! कल से धरती के गड्ढे में जब मेरी सेज बिछेगी, तब बेचैन होने पर कौन मुझे बोल-भरोसा देगा।

दधति मुदमनेकाः योषितः प्राणिवर्गे
स्तनविगलितदुग्धं स्वशिशून् पाययन्त्यः।
महति मनुजवंशे जन्मना नैव दृष्टं
तव विक्रममुखाब्जं हा पयः स्रावयन्त्याः॥११॥

जानवरों में भी अनेक मादाएँ अपने स्तन से टपकते दूध बच्चों को पिलाती हुई खुश होती हैं। हाय! महान् मनुष्यकुल में जन्म लेकर भी मैं दूध टपकाती हुई तुम्हारा कमल-सा मुख नहीं देख सकी।

महति मनुजदेहे पुण्यभावेन जन्म
कठिनतरतपस्या-सञ्चितेनैव लोके।
तदपि वननिकुञ्जे पृष्ठमालम्ब्य मातु-
र्विहरति कपिकन्या किं तथा मे न भाग्यम्॥१२॥

कठिन तपस्या से जमा किए गए पुण्य से इस संसार में महान् मनुष्य के रूप में जन्म होता है, फिर भी झुरमुटों में अपनी माँ की पीठ पर बन्दरिया तो सैर करती है; क्या मेरा वैसा भाग्य नहीं?

स्वपिति तव सकाशे भ्रातृपादो ममैव
कुलगृहमणिदीपो नन्दनो दुःखहारी ।
जननि हि करमूलं मण्डितं का प्रकुर्या-
दहह नभसि पूर्णो तस्य रक्षानुबन्धैः ॥१३॥

तुम्हारे बगल में जो मेरे भैया सो रहे हैं, जो कि इस वंश को चमकानेवाले, दुःखों को मिटानेवाले हैं; माँ! तुम्ही कहो कि भला इनकी कलाई को सावन की पूनम के दिन राखी से कौन सजाएगी?

यदुपतिकृतकोपाद्भ्रातरं रक्षितुं या
चरितमुनिसपर्या चक्रिकाभूत्तु साम्बा ।
प्रतिकृतमपि तस्याः मृद्धिराक्ल्य मातः
प्रणमति भगिनी सा कार्तिके तद्धिताय ॥१४॥

श्रीकृष्ण के क्रोध से अपने भाई (साम्ब) को बचाने के लिए जो साम्बा चकई का रूप धारण कर जंगल में मुनि की पूजा-अर्चना करती रही, उस साम्बा (सामा) की मूर्ति मिट्टी से गढ़कर अपने भाई के कल्याण के लिए भला कौन बहन पूजा किया करेगी?

वद जननि जगत्यां कन्यकाभ्रूणहत्या
प्रतिगृहमपि नारीं यद्यरोत्स्यत्समन्तात् ।
प्रियतरसुतजायां तेन यन्त्रोद्धवाञ्च
कथमिव सममेलिष्यस्तु रोबोटरूपाम् ॥१५॥

बोलो माँ! यदि इस संसार में कन्या-भ्रूण-हत्या से हरेक घर में नारी का जन्म रोक दिया जाता है, तब तुम मशीन से बने रोबोट को अपने प्यारे बेटे की पत्नी के रूप में पाकर कैसे आलिंगन करोगी?

गणयसि कथमम्बेमां सदा दुःखरूपां
स्मर हिमपतिकन्यां शुम्भहन्त्रीञ्च दुर्गाम् ।
पठितसकलशास्त्रां पण्डितामेव गार्गी
दशरथरथयन्त्रीं मध्यमां वापि भार्याम् ॥१६॥

माँ! इस कन्या को तुम हमेशा के लिए दुःख-स्वरूप क्यों समझती हो? हिमालय की पुत्री पार्वती, शुम्भ को मारनेवाली दुर्गा को भी तो स्मरण करो। सभी शास्त्रों को पढ़ लेनेवाली विदुषी गार्गी को भी याद करो। अथवा दशरथ के रथ को चलानेवाली उनकी मँझली रानी कैकेयी को याद करो।

सततविटपबीजाधारभूतां धरित्रीं
स्नपनकुशलिनीं वा साधु जानीहि मां द्याम् ।
विकचकमलहासां चन्द्रिकास्निग्धभासां
मलयपवनगन्धां कोकिला-काकलीं च ॥१७॥

फैले हुए वृक्ष के बीज का आधार धरती के रूप में तथा ऊपर से वर्षा के जल से स्नान कराने में चतुर आकाश के रूप में मुझे अच्छी तरह जानो। खिले हुए कमल के समान मेरी हँसी है, चाँदनी की तरह कोमल मेरी चमक है; मलयानिल की सुगन्धि तथा कोयल की कूक भी मैं ही हूँ।

त्वमपि जननि हीनाः मन्यसे किं स्त्रियो वा
रिपुदलवनदाहे वहिनहेतिस्वरूपाः ।
करधृत-करवालाघट्टभूतस्फुलिङ्गै-
र्यमपुरसृतिमेवालोकयन्त्यो रिपुभ्यः ॥१८॥

माँ! शत्रुओं के समूहरूपी जंगल को जलाने में आग की लपट के समान तथा हाथ से पकड़ी गई तलवार की टक्कर से निकली चिनगारियों से शत्रुओं के लिए यम की नगरी की ओर जानेवाले रास्ते को प्रकाशित करनेवाली नारियों को क्या तुम तुच्छ समझ रही हो?

(क्रमशः)

ग्राम+पो० हटाढ़ रूपौली,
झंझारपुर, मधुबनी ।



गोचर में सिंहराशिगत बृहस्पति का प्रभाव

□ आचार्य राजनाथ झा

ज्योतिष् शास्त्र के अनुसार सम्पूर्ण नक्षत्र-मण्डल दीर्घवृत्त के रूप में ३६० अंश का है, जिसे मेष, वृष, मिथुन इत्यादि बारह राशियों में बाँटा गया है। सूर्य एक माह में एक राशि पर संक्रमण करते हैं, इसके लिए बृहस्पति को लगभग एक वर्ष का समय लगता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जुलाई २००३ ई० से बृहस्पति मेष राशि से १२० अंश पर सिंह राशि में प्रविष्ट हो गए।

बृहस्पति ग्रहों के मन्त्री है। इनकी स्थिति से सामान्य शिक्षा, उच्च शिक्षा, बुद्धि, घर, सन्तान, अग्रज, ज्ञान-विज्ञान, धार्मिक कार्यों का ज्ञान, शास्त्रार्थ, धन, उन्नति, वेदपठन, व्याख्याता, प्राचार्य एवं अन्य उच्चाधिकारी पद, नेतृत्व-प्रधान कार्य, सन्तान तथा हृदयरोग, बुखार, मूर्च्छा, धड़कन, अरुचि, नेत्ररोग इत्यादि विषय राशि-गोचर से वर्ष भर के लिए विचारणीय हैं।

ज्योतिष् शास्त्र में बृहस्पति के मध्यम भोग से प्रत्येक वर्ष का नामकरण भी किया गया है, जिनकी संख्या ६० है। इस मत से वर्तमान गुरुवर्ष का नाम 'दुर्मुख' है, जिसमें धान की फसल अच्छी नहीं होगी, मँहगाई बढ़ेगी, मुकदमे असफल होंगे, नरसंहार होंगे (मकरन्द प्रकाश)। सिंहराशि सूर्य का मूल स्थान है, अतः इस वर्ष बृहस्पति सूर्य के घर में रहेंगे। सूर्य और बृहस्पति में मित्रता है। बृहस्पति मित्र के घर में रहने से आलसी हो जाते हैं, इसलिए वे शुभकारक नहीं होते।

गुरुक्षेत्रे गतोभानुः भानुक्षेत्रे गतो गुरुः।

गुर्वादित्यः स विज्ञेयो गर्हितः सर्वकर्मसु।।

महर्षि शौनक के अनुसार इस वर्ष में कोई भी शुभकार्य अच्छा नहीं माना गया है; जैसे—

बगीचा, तालाब, कुआँ, मन्दिर-निर्माण, तीर्थयात्रा आदि के कार्यों के साथ-साथ उपनयन, विवाह, यात्रा, देवादिप्रतिष्ठा व्रतोद्यापन एवं विभिन्न शुभ कर्मों का निषेध किया गया है। **देवीपुराण** में कहा गया है कि किसी भी शुभकार्य का आरम्भ नहीं करना चाहिए। आरम्भ करने पर कर्ता को कार्यसिद्धि नहीं मिलेगी; साथ ही भाई, पत्नी आदि का विनाश होगा, स्वयं भी मृत्यु को प्राप्त करेगा। ये ही फल मकर राशि में स्थित गुरु के लिए भी कहे गए हैं। इसी क्रम में गोदावरी-स्नान, गया में पिण्डदान, श्रीशैल पर मल्लिकार्जुन ज्योतिर्लिंग की तीर्थयात्रा ये शुभ माने गए हैं; इसकी चर्चा वायुपुराण में की गई है।

एक राशि में ३० अंश होते हैं, जिनमें नवग्रहों के एक-एक नवमांश होते हैं। इस तरह पूरे वर्ष के १/६ भाग में बृहस्पति सिंह के नवमांश में होंगे। आचार्यों ने इस अवधि को सबसे अधिक दोषपूर्ण माना है। इस अवधि में सभी स्थानों में बृहस्पति दोष-कारक हैं। इसके बाद वर्ष के बाकी दिनों में गंगा से दक्षिण एवं गोदावरी से उत्तर के स्थानों में ही यह दोष रहेगा, लेकिन शेष स्थान में यह दोष नहीं लगेगा। इन स्थानों में शुभकर्म किए जा सकते हैं। नर्मदा से पूरब गण्डक से पश्चिम, सोन नदी से उत्तर के क्षेत्र में भी गुरु-सम्बन्धी दोष नहीं होंगे, साथ ही जिन स्थानों में गुरु के दोष कहे गए हैं, वहाँ भी मेष में सूर्य रहने पर अर्थात् २००४ ई० के वैशाख महीने में सभी कार्य किए जा सकते हैं। इस तरह गंगा के दक्षिण मगधक्षेत्र में केवल २००४ ई० के वैशाख मास में शुभकार्य विहित होंगे। गंगा के

उत्तर वैशाली, मिथिला आदि क्षेत्रों में आगामी लगन जो मार्गशीर्ष (अगहन) से प्रारम्भ होगा, वह प्रभावित नहीं होगा, मुहूर्त-चिन्तामणि जो कि उत्तर भारत के लिए मुहूर्त ज्योतिष् का मान्य ग्रन्थ है, उसमें कहा गया है कि—

मघादिपञ्चपादेषु गुरुः सर्वत्र निन्दितः।

गङ्गागोदान्तरं हित्वा शेषांग्रिषु न दोषकृत्॥५१॥

मेषऽर्के सद्व्रतोद्गाहौ गङ्गागोदान्तरेऽपि च।

सर्वः सिंहगुरुर्वर्ज्यः कलिङ्गे गौडगुर्जरे॥५२॥

राशि गौचर से बारहों राशि पर गुरु का प्रभाव इस तरह से पड़ेगा—

(१) मेष— (चु, चे, चो, ला, ली, लू, ले लो, अ) इस राशि के जातक के लिए बृहस्पति सुख-सुविधा में वृद्धि, शिक्षा-प्रतियोगिता के क्षेत्र में सफलता, नौकरी के क्षेत्र में प्रोन्नति, आर्थिक लाभ, सफलता, पारिवारिक प्रसन्नता तथा मन में उल्लास के कारक होंगे।

(२) वृष— (इ, उ, ए, ओ, वा, वी, वु, वे, वो) वृषराशि पर बृहस्पति इस तरह से प्रभाव करेंगे— मानसिक उलझन, आर्थिक क्षति, शत्रुकी वृद्धि, कुटुम्बों से असुविधा तथा देश-परिवर्तन आदि। शान्ति के लिए रामरक्षास्तोत्र तथा बृहस्पति-कवच का पाठ करें।

(३) मिथुन— (क, की, कु, घ, ङ, छ, के, को, ह) इस राशिवालों के लिए बृहस्पति मानसिक पीड़ा, उलझन, बाधा, मित्रों से अनबन, पारिवारिक असन्तोष, अकारण वाद-विवाद स्थान-भ्रष्टता, नौकरी के क्षेत्र में अवनति तथा आंशिक शारीरिक पीड़ा के कारक होंगे। शान्ति के लिए 'ॐ बृ बृहस्पतये नमः' मन्त्र का जप एवं विष्णुसहस्रनाम का पाठ करें।

(४) कर्क— (हि, हु, हे, हो, डा, डी, डू, डे, डो) इस राशिवालों के लिए बृहस्पति धनागम, सुखानुभूति, ख्याति, उन्नति, शत्रु पर विजय तथा केस-मुकदमा में सफलता, दानादि कर्म में अभिरुचि एवं श्रेष्ठ फलदायक होंगे।

(५) सिंह— (मा, मी, मु, मे, मो, टा, टी, टु, टे) सिंहराशिवालों के लिए बृहस्पति भय, मानहानि, रोजगार में हास, मानसिक उलझन, क्रोधाधिक्य, वैमनस्य, वैचारिक मतभेद, आर्थिक समस्या, परेशानी के कारक होंगे। शान्त्यर्थ विष्णुसहस्रनाम एवं रामरक्षास्तोत्र का पाठ करें तथा 'ॐ बृ बृहस्पतये नमः' का १०८ बार जप करें।

(६) कन्या— (टो, पा, पी, पू, ष, ण, ठ, पे, पो) इनके लिए बृहस्पति गृहत्याग, शारीरिक कष्ट, पेट और हृदय-सम्बन्धी रोग, मुकदमेबाजी, दरिद्रता, मानसिक उलझन, एवं शुभ फल में हास के कारक होंगे। शान्त्यर्थ गुरुयन्त्र धारण करें, केले की जड़ पीले वस्त्र में बाँधकर गुरुवार के दिन दाहिनी भुजा में बाँधें।

(७) तुला— (रा, री, रु, रे रो, ता, ती, तु, ते) इनके लिए बृहस्पति शत्रु पर विजय, पारिवारिक प्रसन्नता, अर्थलाभ, प्रतिष्ठा में वृद्धि, पदप्राप्ति तथा समस्त कार्यों में सफलता के कारक होंगे।

(८) वृश्चिक— (तो, ना, नी, नू, ने, नो, या, यी, यू) इस राशिवालों के लिए बृहस्पति आर्थिक समस्या, धनहानि, स्वजनों से विवाद, बेकारी, व्यर्थ के भ्रमण, उदासीनता, घबराहट, शारीरिक पीड़ा तथा उदररोग के कारक होंगे।

(९) धनु— (ये, यो, भा, भी, भू, धा, फ, ढ, भे) इस राशिवालों को धन की प्राप्ति, प्रतिष्ठा में वृद्धि, पुरस्कार, सम्मान, पुत्र से सुख, मकान-सम्बन्धी कार्य में लाभ तथा अनेक श्रेष्ठ फल प्राप्त होंगे।

(१०) मकर— (भो, जा, जी, खी, खू, खे, खो, गा, गी) इस राशिवालों के लिए बृहस्पति रोग, शोक, चोर एवं अग्नि का भय, राजपक्ष से प्रतिकूलता, क्रोधाधिक्य, पदावनति, जेल जाने की सम्भावना, पारिवारिक उलझन, आर्थिक समस्या एवं शारीरिक कष्ट कारक होंगे। कन्याराशि के समान शान्ति करें।

(११) कुम्भ- (गु, गे, गो, सा, सी, सू, से, सो, दा) कुम्भ राशिवाले मान-सम्मान में वृद्धि, उत्तम भोजन, कार्यों में सफलता, शारीरिक स्वास्थ्य-लाभ, बौद्धिक विकास, विवाहादि शुभकर्म तथा अनेक भौतिक सुख प्राप्त करेंगे।

(१२) मीन- (दी, दू, थ, झ, ज, दे, दो चा, चि) इस राशिवालों के लिए बृहस्पति पारिवारिक

उलझन, शत्रु का उपद्रव, अकारण विवाद, शारीरिक कष्ट, घर में अशान्ति के कारक होंगे। शान्ति के लिए 'बृहस्पति-कवच' तथा 'विष्णुसहस्रनाम' का पाठ करें; साथ ही 'ॐ बृं बृहस्पतये नमः' मन्त्र का जप करें।



नवग्रह-स्तोत्र

जपाकुसुमसंकाशं काश्यपेयं महाद्युतिम्। तमोऽरिं सर्वपापघ्नं प्रणतोऽस्मि दिवाकरम्॥

मैं अद्भुत के फूल के समान (रक्तवर्ण), काश्यप-नन्दन, अत्यधिक प्रकाशवान्, अन्धकार-नाशक, सब प्रकार के पापों के नाशक दिनकर को प्रणाम करता हूँ।

दधि-शंख-तुषाराभं क्षीरोदार्याव-सम्भवम्। नमामि शशिनं सोमं शम्भोर्मुकुटभूषणम्॥

दही, शंख एवं हिमकण की आभावाले, क्षीरसागर से उत्पन्न, भगवान् शिव के मुकुट (जटा) के आभूषण चन्द्रमा को मैं प्रणाम करता हूँ।

धरणी-गर्भसम्भूतं विद्युत्कान्ति-समप्रभम्। कुमारं शक्तिहस्तं तं मंगलं प्रणमाम्यहम्॥

मैं धरती के गर्भ से उत्पन्न, बिजली की प्रभा की तरह प्रकाशमान, हाथ में शक्ति धारण किए कुमार (मंगल) को प्रणाम करता हूँ।

प्रियंगुकलिकाश्यामं रूपेणाप्रतिमं बुधम्। सौम्यं सौम्यगुणोपेतं तं बुधं प्रणमाम्यहम्॥

मैं कगुनी की कली की तरह श्यामल, रूप से (सुन्दरता में) अद्वितीय, सोमपुत्र, स्निग्ध बुध को प्रणाम करता हूँ।

देवानां च ऋषीणां च गुरुं कांचनसन्निभम्। बुद्धिभूतं त्रिलोकस्य तं नमामि बृहस्पतिम्॥

मैं देवताओं और ऋषियों के गुरु, स्वर्ण की आभावाले, तीनों लोकों की बुद्धि के आधार बृहस्पति को प्रणाम करता हूँ।

हिमकुन्दमृणालाभं दैत्यानां परमं गुरुम्। सर्वशास्त्रप्रक्तारं भार्गवं प्रणमाम्यहम्॥

मैं हिम, कुन्द तथा कमलनाल की आभावाले (समान रंगवाले), दैत्यों के परम गुरु, सभी शास्त्रों के प्रवक्ता शुक्राचार्य को प्रणाम करता हूँ।

नीलांजनसमाभासं रविपुत्रं यमाग्रजम्। छाया-मार्तण्ड-सम्भूतं तं नमामि शनैश्चरम्॥

मैं काजल के समान नीलवर्ण, सूर्यपुत्र, यमराज के अग्रज, छाया और सूर्य के संयोग से उत्पन्न शनि को प्रणाम करता हूँ।

अर्धकायं महावीर्यं चन्द्रादित्य-विमर्दनम्। सिंहिकागर्भसम्भूतं तं राहुं प्रणमाम्यहम्॥

मैं आधे शरीरवाले (मुण्ड भागवाले), महान् शक्तिशाली, चन्द्रमा और सूर्य को विमर्दित करनेवाले तथा माता सिंहिका के गर्भ से उत्पन्न राहु को प्रणाम करता हूँ।

पलाशपुष्प-संकाशं तारकाग्रहमस्तकम्। रौद्रं रौद्रात्मकं घोरं तं केतुं प्रणमाम्यहम्॥

पलाश के पुष्प के समान, पुच्छलतारा, भयंकर रूप धारण करनेवाले स्वाभाविक रौद्र केतु को प्रणाम करता हूँ।



स्मृति-तर्पण

यशःशेष परमहंस रामचन्द्र दासजी

रामभक्तिसुधासिन्धौ नित्यमेवावगाहिने ।
नमः परमहंसाय रामचन्द्राभिधाय वै ।

अनन्त श्रीविभूषित योगिराज, युगपितामह, प्रतिवादी भयंकर आदि विशेषणों से विभूषित परमहंस रामचन्द्र दासजी देश के साम्प्रतिक धर्माचार्यों में पांक्तेय रहे हैं। इनका सम्पूर्ण जीवन धर्माचरण एवं राष्ट्रीय संस्कार में रहा है। विलक्षण मेधा के धनी परमहंसजी के आशीर्वाद एवं परामर्श से कितने लोगों का जीवन धन्य हो गया। रामभक्ति की शृंखला की मजबूत कड़ी परमहंसजी का गत ३१-०७-२००३ (बृहस्पतिवार) को देहावसान हो गया, किन्तु ये अपने यशःशरीर से सबके लिए प्रेरणास्रोत बने रहेंगे। इनके निधन की सूचना से इनके कृपापात्रों के साथ-साथ इनके वैदुष्य से प्रभावित वर्ग एवं भक्त-समाज मर्माहत रहा गया।

आध्यात्म-दर्शन के शलाकापुरुष परमहंस 'दिगम्बर अखाड़ा', अयोध्या के महन्त एवं 'श्रीराम-जन्मभूमि न्यास' के अध्यक्ष थे। ये इन दोनों पदों को सुयोग्यता से निर्वाह करनेवाले थे, इसलिए 'इनके बाद कौन?' को लेकर बहुत से लोग चिन्ता में पड़ गए।

परमहंसजी के सान्निध्य में देश के स्वनाधन्य असंख्य गणमान्य लोग रहे हैं। इनके कृपासिक्त लोगों को सूचीबद्ध करना कठिन है। साधना, सेवा और संस्कार से इन्होंने प्राचीन भारतीय ऋषियों के गौरव का निर्वाह किया और गुरुपद पर आसीन रहकर श्रीराम के आदर्श को लोकजीवन में वितरित करते रहे।

लगभग नौ दशकों के अपने जीवन काल को इन्होंने तपःपूत, साधनसम्भूत एवं प्रतिभाप्रदीप्त बनाकर आर्ष परम्परा को बल प्रदान किया तथा क्रियावान् धर्मधुरन्धर रहकर ज्ञानदान करते रहे।

परमहंसजी मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम के परम भक्त थे। ये श्रीरामजन्म-भूमि उद्धार-आन्दोलन के अप्रतिम योद्धा और पुरोधे थे। ये भगवान् श्रीराम

की जन्मभूमि पर ही मन्दिर बनाने के प्रति दृढ़ थे और इसी कारण इस मत को माननेवाला सम्पूर्ण विश्व इनके प्रभाव में था।

जब पहली बार रामचन्द्रदासजी को हृदयाघात लगा, तब इन्होंने राष्ट्र के नाम अपने सन्देश में जो कहा था, वह अन्तिम सन्देश बनकर रह गया। इन्होंने कहा था— "हिन्दू समाज से मुझे इतना ही कहना है कि आज वह सम्प्रदाय और जातियों में बँट चुका है। देहज-जैसी कुरीतियाँ समाज की जड़ को खोखला कर रही हैं। छुआछूत का भूत सवार है। अगर वास्तव में हिन्दू समाज जिन्दा रहना चाहता है तो शीघ्रातिशीघ्र छुआछूत, ऊँच-नीच के भेद-भाव को छोड़े। पिछड़ों को आगे बढ़ाने की योजनाओं को क्रियान्वित करे। हिन्दू ऐसी विचार धारा है, जो बताती है कि किस भाँति जिन्दा रहना है और किस भाँति मरना है। हिन्दू जाति का दर्शन ही आचरण-संहिता है। इस जाति का इतिहास कपोल-कल्पित नहीं, बल्कि ऐतिहासिक सत्य है। जिसकी वेदों में श्रद्धा है, पुनर्जन्म में विश्वास है, प्रणव (ओंकार) को महामन्त्र मानता है, वह हिन्दू है। यह परिभाषा हिन्दू जाति को अजर-अमर रखने में समर्थ है। इसी आदर्श को लेकर अनेकानेक महापुरुषों ने अनेकता में एकता का सन्देश दिया है। मैं उन महापुरुषों के चरणों में नत-मस्तक हूँ और कामना करता हूँ कि 'भारत राष्ट्र' इन्हीं आदर्शों को लेकर एक बार फिर विश्वगुरु के पद पर प्रतिष्ठित होगा।"

राष्ट्रभक्ति और हिन्दूहितेच्छा के इसी पुनीत प्रेम की प्रगाढ़ता के कारण प्रधानमन्त्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने अपने लिखित शोकसन्देश में इन्हें "पर्वत की तरह दृढ़ तथा सरयू की तरह स्नेह से भरे" बताया।

इनके भतीजे श्री हरिश्चन्द्र तिवारी ने बताया है कि परमहंसजी का जन्म सन् १९१२ ई० में बिहार के सारण (छपरा) जिले के सिंघिनपुर नामक गाँव में स्व० भगेरन तिवारी के द्वितीय (कनिष्ठ) पुत्र के रूप में हुआ था। इनके अग्रज का नाम श्री यज्ञानन्द तिवारी था।

परमहंसजी का पूर्वनाम चन्द्रशेखर तिवारी था, पर सभी लोग भूनर-भूनर कहकर पुकारते थे।

इनके पिता स्व० भगेरन तिवारी अपने जमाने के नामी संगीतज्ञ, कलाकार एवं विद्वान् थे, उनकी पहुँच दरभंगाराज तक थी।

बचपन में ही परमहंसजी के माता-पिता की छत्रच्छाया छिन गई, पर इनके अग्रज स्व० यज्ञानन्द तिवारी ने इन्हें पाला-पोसा और माता-पिता की कमी खटकने नहीं दी। बिगड़ी आर्थिक स्थिति के कारण पारिवारिक नाव डगमगाती थी, पर यज्ञानन्दजी ने दृढ़तापूर्वक सामना किया। इसी बीच जन्मग्राम सिंघिनपुर भी गंगा के कटाव में आ गया। भगवत्कृपा से बरियारचक के उदार जमींदार महादेव सिंहजी ने अपने गाँव में यज्ञानन्दजी को जमीन देकर बुला बसाया। यहीं अपने अग्रज की देख-रेख में बालक परमहंसजी की शिक्षा-दीक्षा प्रारम्भ हुई और ये अपनी कुशाग्र बुद्धि से पितृतुल्य भैया को प्रसन्न करते रहे।

जब परमहंसजी कुछ बड़े हुए, तब सामर्थ्य न रहने पर भी यज्ञानन्दजी ने बाहर भेजकर पढ़ाने की सोची। यज्ञानन्दजी कड़ी मेहनत कर धनार्जन के अनेक उपाय किए; अध्यापन किया; होमियो पैथी डाक्टरी की और तब इन्हें नया गाँव, हाजीपुर तथा दानापुर मनीआर्डर भेज-भेजकर पढ़ाते रहे, किसी तरह की कमी खलने नहीं दी।

एक बार बरियार चक के पास किसी गाँव में अयोध्या के सन्त बाबा रामदासजी यज्ञ करा रहे थे। वहीं परमहंसजी को उनका सान्निध्य प्राप्त हो गया। परमहंसजी उनसे इतने प्रभावित हुए कि उनके साथ अयोध्या चले गए। ये अयोध्या के राममन्दिर में रहते थे और वहाँ इनका खूब ज्ञानार्जन चला। इसके बाद ये देशभ्रमण, तीर्थाटन करते रहे। वर्षों भ्रमण के पश्चात् इन्होंने कठिन तपस्या की, साधना की, जंगलों में रहे, पर्वतों की गुफाओं में रहे, फल-फूल खाकर अपने तन को तपाया, संस्कृत किया और तब सिद्धि प्राप्त कर रामघाट के उस मन्दिर में आ रहे। उक्त मन्दिर में रहकर भी इन्होंने एकान्त साधना की थी।

परमहंसजी 'साध्नोति परकार्यणीति साधुः' अथवा परहित सरिस धरम नहिं भाई की आस्था से समन्वित थे। उन्होंने मात्र एक साधु के अतिरिक्त अयोध्या

नगरपालिका में रहकर वहाँ की गलियों, सड़कों तथा नालियों का निर्माण कराया एवं पेयजल भी सुलभ कराया। इसके बाद इन्होंने राम-जन्मभूमि के उद्धार का बीड़ा उठाया। उन्होंने राम-जन्मभूमि के उद्धार के लिए न्यायालय में मुकदमा दायर किया, ताला न खोलने पर आत्मदाह की धमकी दी, जिससे १ फरवरी १९८६ को ताला खुला। इनके ही नेतृत्व में कारसेवा हुई तथा पथरों की तराशी का काम शुरू हुआ।

परमहंसजी अयोध्या की राम-जन्मभूमि में मन्दिर का निर्माण देखना चाहते थे, लेकिन असाध्य रोग ने इनके जीवनकाल में इस स्वप्न को परिणत नहीं होने दिया। आशा है, भगवान् राम इस भक्त के स्वप्न को साकार करने के लिए कोई-न-कोई निमित्त अवश्य बनाएँगे। तब सदियों से मूर्च्छित इस मन्दिर के प्रति हिन्दुओं की आस्थारूपी ग्रीष्मदग्ध तृणसंकुल वर्षाद्रि होकर लहलहा उठोगा, हरित-भरित हो उठेगा।

श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" अर्थात् जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु अटल है। इसलिए इस मृत्युलोक का कुछ भी अमर नहीं है। अमर है तो बस उसका कृतित्व। अपने उत्तम कृतित्वों के कारण ऋषि-महर्षियों की श्रेणी में गणनीय परमहंस रामचन्द्र दासजी पंचत्व को प्राप्त होकर भी अमर हो गए हैं।

आज परमहंसजी हमारे बीच स्थूलतः नहीं हैं, ईश्वर-प्रदत्त इनका दिव्य स्वरूप नहीं है, दिनांक १.८.२००३ को हजारों की भीड़ ने इनकी यात्रा को अन्तिम विदाई दी, इनकी काया अयोध्या के सरयूतट पर स्थित सन्त तुलसीदास घाट पर पंचतत्त्व में विलीन हो गई, पर इनकी स्मृति हमारे मानस पटल पर बनी रहेगी। हम कृतज्ञ हैं, इन्हें भूल नहीं सकते। समाज को इनसे अभी बहुत अपेक्षा थी, पर "बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा।" दिवंगत परमहंसजी को भावभीनी श्रद्धांजलि समर्पित है।

पाण्डित्यवैशिष्ट्यविभूषिताय,

महर्षिकल्पाय च वैष्णवाय।

श्रीरामचन्द्राय दिवंगताय

श्रद्धांजलिं सुष्ठु समर्पयामः।।



पाठकीय प्रतिक्रिया

पटना-प्रवास के दौरान 'धर्मायण' का एकाधिक अंक देखा। इतनी अच्छी पत्रिका देखकर सचमुच मन आह्लादित हो गया। साधुवाद।

प्रमोद पाण्डेय,

उप सम्पादक,

'अमर उजाला' दैनिक,

कपूरथला रोड, जालन्धर (पंजाब)

पिन कोड : १४४०२१◆

'महावीर मन्दिर' की ओर से 'धर्मायण' पत्रिका का प्रकाशन नियमित रूप से होता आ रहा है, जो एक अति प्रशंसनीय कार्य है। इसमें उत्कृष्ट कोटि के साहित्यिक एवं धार्मिक आलेखों का प्रकाशन होता है। इसका महत्त्व भारत के विभिन्न प्रदेशों में तो है ही, विदेशों में भी है। मैं भी इसका पाठक हूँ। आचार्य किशोर कुणालजी की देख-रेख एवं सेवा-भक्ति अद्वितीय है। बधाई एवं शुभकामना देता हूँ।

डा० तारकेश्वर नाथ सिन्हा,

पूर्व यूनिवर्सिटी प्रोफेसर (हिन्दी),

मगध विश्वविद्यालय,

सम्पर्क-सूत्र— ज्ञाननिकेतन,

आनन्द विहार कालोनी,

गया ◆

'धर्मायण' का ६१ वाँ अंक पढ़ा। इसमें संकलित सभी रचनाएँ ज्ञानवर्द्धक, जीवनोपयोगी एवं संस्कारक हैं। एतदर्थ समस्त लेखकों के साथ-साथ सम्पादक-मण्डल धन्यवाद का पात्र है।

सम्पादकीय 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः' ने मन के सर्वस्वरूपों की ओर स्पष्ट कर दिया है। 'हर हर महादेव' में आचार्य सीताराम चतुर्वेदीजी ने समस्त वेद-पुराणों में वर्णित भगवान् शंकर की महिमा एवं रूपों को प्रस्तुत कर अपने पाण्डित्य से आह्लादित किया। 'लोकप्रचलित सत्यनारायण-कथा: एक अन्वेक्षण' में आचार्य किशोर कुणालजी ने अपने गम्भीर अध्ययन एवं गवेषणात्मक प्रवृत्ति से उत्तम आलेख प्रस्तुत किया है। 'गोपी-तत्त्व-मीमांसा' में कैलाश त्रिपाठीजी ने भगवान् श्रीकृष्ण और गोपियों के तात्त्विक सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। 'धर्म और श्रीराम' में दामोदरदत्त मिश्र 'प्रसूनजी' ने श्रीराम के धर्माचरण पर विशेष प्रकाश डाला है। 'मनु की दृष्टि में नारी' में डा० श्रीरंजन सूरिदेवजी ने मनुस्मृति के आधार पर नारी-गौरव को उत्तमतापूर्वक स्थापित किया है। प्रो० रामाश्रय प्रसाद सिंहजी ने भारतीय 'ऋषि-संस्कृति और कृषि-संस्कृति' में संस्कृति के आधार के रूप में ज्ञान एवं कर्म को स्थापित करते हुए इनके स्थूल रूप ऋषियों और कृषकों (गृहस्थों) के चरित्र पर प्रकाश डाला है।

इसी तरह सत्य की अवधारणा (आचार्य सारंगधरजी), हिन्दू धर्म: महात्मा गांधी के विचार-दर्शन (डा० एस० एन० पी० सिन्हाजी), धर्म और धर्म-परिवर्तन (डा० रामजी सिंहजी), योगवासिष्ठ और मुसलमान (प्रताप कुमार मिश्रजी), बुद्धचरित और यशोधरा (डी० आर० ब्रह्मचारीजी), बाल विवाह: न धर्म-सम्मत, न विधिसम्मत (कृष्णानन्दजी), लोक-संस्कृति के विविध आयाम (डा० वीरेन्द्र कुमार वसुजी) तथा भारतीय स्वातन्त्र्य-समर की अप्रतिम वीरगंगा: दुर्गा भाभी (परमानन्द दोषीजी) की रचनाओं ने मुझे बहुत प्रभावित किया। धन्यवाद।

धर्मेन्द्र पाठक,

ग्राम- दयालपुर,

पो०- गोगौरा

जिला- बक्सर



व्रत-त्योहार

अप्रैल से जून तक	दिन	दिनांक
वैनायकी चतुर्थीव्रत	बृहस्पतिवार	०३/०७/२००३
विष्णुशयनी एकादशी (सबकी)	बृहस्पतिवार	१०/०७/२००३
एकादशीव्रत की पारणा (प्रातः ६.३४ तक)	शुक्रवार	११/०७/२००३
गुरुपूर्णिमा	रविवार	१३/०७/२००३
श्रावण सोमवारव्रत प्रारम्भ	सोमवार	१४/०७/२००३
संकष्टी चतुर्थीव्रत	बृहस्पतिवार	१७/०७/२००३
कामदा एकादशी (सबकी)	शुक्रवार	२५/०७/२००३
मास शिवरात्रि	रविवार	२७/०७/२००३
भौमवती अमावस्या	मंगलवार	२९/०७/२००३
धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री-जयन्ती	बृहस्पतिवार	३१/०७/२००३
वैनायकी चतुर्थीव्रत	शुक्रवार	०१/०८/२००३
नागपंचमी	शनिवार	०२/०८/२००३
गोस्वामी तुलसीदास जयन्ती	सोमवार	०४/०८/२००३
पुत्रदा एकादशी (सबकी)	शुक्रवार	०८/०८/२००३
रक्षाबन्धन /संस्कृतदिवस /श्रावणी पूजा	मंगलवार	१२/०८/२००३
स्वतन्त्रादिवस /संकष्टी चतुर्थीव्रत	शुक्रवार	१५/०८/२००३
श्रीकृष्ण-जन्मष्टमी	बुधवार	२०/०८/२००३
जया एकादशी	शनिवार	२३/०८/२००३
मास शिवरात्रि	सोमवार	२५/०८/२००३
कुशोत्पाटिनी अमावस्या	बुधवार	२७/०८/२००३
हरितालिका (तीज) व्रत	शनिवार	३०/०८/२००३
वैनायकी चतुर्थीव्रत	रविवार	३१/०८/२००३
ऋषिपंचमीव्रत	सोमवार	०१/०९/२००३
पद्मा एकादशी (सबकी) / कर्मा एकादशी	शनिवार	०६/०९/२००३
वामनद्वादशी	रविवार	०७/०९/२००३
अनन्तचतुर्थी व्रत	मंगलवार	०९/०९/२००३
पूर्णिमा	बुधवार	१०/०९/२००३
हिन्दीदिवस /संकष्टी चतुर्थीव्रत	रविवार	१४/०९/२००३
विश्वकर्मा-पूजा	बुधवार	१७/०९/२००३
जीवत्युत्रिका (जितिया) व्रत	शुक्रवार	१९/०९/२००३
इन्दिरा एकादशी (सबकी)	सोमवार	२२/०९/२००३
अमावस्या /पितृ-विसर्जन	शुक्रवार	२६/०९/२००३
शारद नवरात्रारम्भ	शनिवार	२७/०९/२००३
वैनायकी चतुर्थीव्रत	सोमवार	२९/०९/२००३

ऽऽऽऽऽऽऽऽ

[धर्मायण के अंक ६१ में संकलित ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ३५ वें सूक्त सवितृसूक्त की शेष छह ऋचाएँ हिन्दी-पद्यानुवाद-सहित उपन्यस्त हैं।- सं०]

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट् ।
आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ॥

लोकत्रय में लोकद्वय हैं अंक-विराजित, मृतकों का गतिकक्षेत्र एक यमसदन-उपस्थित।
अणि पर रथ की तरह सभी ज्योतिर्मय आश्रित, ऐसे हैं सविता अकथ्य महिमा से विलसित ॥

वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद् गभीरवेपा असुरः सुनीथः ।
क्वे ३ दानीं सूर्यः कश्चिकेत कतमां द्यां रश्मिरस्या तनान ॥

जिनकी किरणें हैं रहस्यमय प्राण-प्रदायी, और उत्तमोत्तम हैं जो नेतृत्वविधायी।
किया जिन्होंने सब लोकों को दिनभर भासित, वे रवि हैं अब कहाँ कौन है करे सुनिश्चित ॥

अष्टौ व्यख्यत्कुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून् ।
हिरण्याक्षःसविता देव आगाद् दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि ॥

द्यौ आदिक लोकत्रय एवं सागरसप्तक, धरती के हैं अष्टदिशाएँ सबकी योजक।
कनकनयन सविता आए इन सबके द्योतक, याजकवर्ग हेतु हैं ये अति द्रविण-प्रदायक ॥

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते ।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥

हेमहस्त औ' सर्वविद्रष्टा सविता आते, निज विचरण से धरा-गगन के रोग भगाते।
तिमिरहरण निज तेजपुंज से नभ में छाते, तदनन्तर ये सूर्यदेव के निकषा जाते ॥

हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाड् ।
अपसेध्रक्षसो यातुधानानस्थाद् देवः प्रतिदोषं गृणानः ॥

कनकपाणि प्राणद वर नेता धनी सुखद जो, ऐसे सविता देव हमारे अभिमुख नित हों।
प्रतिनिश संस्तुति सुनकर ये दिव्योत्तम आते, आकर राक्षस-यातुधान को दूर भगाते ॥

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे ।
तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव ॥

हे सविता! तव मार्ग पुरातन धूलिरहित है, सदा-सर्वथा अन्तरिक्ष में ही संस्थित है।
उसी मार्ग से आज पधारें रक्षक बनकर, और कहें- "मैं हूँ याजक का नित्य पक्षधर ॥"



कैंसर के प्रारम्भिक लक्षण

'कैंसर' सुनने में तो बहुत ही भयावह लगता है और मैं कहूँगा कि यह बीमारी अच्छी नहीं है, लेकिन कैंसर-जैसी बीमारी में कुछ खास बात है, कि कुछ कैंसर को होने से रोजा जा सकता है, कुछ को बिलकुल ठीक किया जा सकता है; बशर्ते कि रोगी बीमारी की शुरुआत में आएँ। कुछ की चिकित्सा कर उन्हें शुरु होने से लेकर यह दिखाई पड़ने लगे इस बीच एक अच्छा अन्तराल होता है। इस समय का सही उपयोग किया जाए तो ४० प्रतिशत कैंसर रोगी को पूरी तरह ठीक किया जा सकता है। जरूरत है लोगों को जानने की। वैसे रोगियों के लक्षण हैं, जो इस रोग को इंगित करते हैं। इस की पूरी तरह जाँच करा लेनी चाहिए; क्योंकि यह कैंसर भी हो सकता है। चूँकि कैंसर शरीर के सारे अंगों को प्रभावित करता है, अतः मैं हर अंग के कुछ-कुछ लक्षण के बारे में जानकारी देता हूँ।

- (१) **बच्चेदानी का कैंसर**— औरतों में यह सबसे ज्यादा पाया जानेवाला कैंसर है। औरतों में करीब ३० प्रतिशत से ज्यादा मरीज इसी बीमारी के आते हैं। यदि बच्चेदानी से गाढ़ा उजला स्राव होने लगे, कभी-कभी मासिक के बीच में भी खून आने लगे, या मोनोपाउज होने के बाद भी यदि कभी-कभी बच्चेदानी से खून आने लगे, सहवास के बाद गुप्तांग से खून आने लगे—ये सभी कैंसर के लक्षण हो सकते हैं इसलिए तुरंत ही डाक्टर से सलाह लेनी चाहिए और पॉप समेयर जाँच करवानी चाहिए। यह बहुत आसान जाँच है। इससे यह पता चल जाएगा कि कैंसर हुआ है अथवा नहीं।
- (२) **मुँह का कैंसर**— यह मर्दों में ज्यादा तथा औरतों में कम पाया जाता है। यह तम्बाकू या तम्बाकू से बनी हुई चीजों के सेवन करने से ज्यादा होता है। जैसे ही मुँह के अन्दर झिल्ली के रंग में परिवर्तन होने लगे, उजला परत ऊपर आने लगे, कोई घाव बन जाए जो छूट नहीं रहा हो तथा कोई उभार या ट्यूमर दिखाई पड़ने लगे तो तुरन्त डाक्टर से सलाह लेनी चाहिए। यदि दाँत बिना वजह हिलने लगे या ढीला होने लगे तो भी डाक्टर से इसे दिखा लेना चाहिए। यह कैंसर भी हो सकता है।
- (३) **गिल्टी का कैंसर**— यदि गिल्टी शरीर के किसी भी हिस्से में बढ़ने लगे जो छूट नहीं रहा हो तो इसकी जाँच 'एफ०ए०ए०सी०' बायोप्सी के द्वारा करा लेने से तुरन्त पता चल जाता है कि यह कैंसर से है या किसी दूसरी बीमारी से।
- (४) **पेशाब की थैली का कैंसर**— यदि पेशाब के साथ खून आने लगे और वह भी बिना दर्द के तो अधिक सम्भावना है कि कैंसर भी हो सकता है, इसे तुरन्त जाँच करवाना चाहिए।
- (५) **प्रोस्टेट का कैंसर**— यदि पेशाब ज्यादा होने लगे, या रुक-रुककर होने लगे, पेशाब करने के बाद भी लगे कि पेशाब लगा हुआ है और ये सारी चीजें यदि ५०-६० वर्ष की उम्र के ऊपर के लोगों में है तो प्रोस्टेट कैंसर हो भी सकता है। पेट के निचले हिस्से में उभार होने लगे तो भी उसकी जाँच करानी चाहिए। 'अल्ट्रासाउण्ड' तथा खून की 'पी०एस०ए०' जाँच से पता चल जाता है कि कैंसर है अथवा नहीं।
- (६) **गॉल ब्लाडर का कैंसर**— यदि गाल ब्लाडर में पथरी हो और बराबर वहाँ पर दर्द हो रहा हो तथा पीलिया रोग का प्रभाव भी मरीज पर आ रहा हो तो तुरन्त इसकी जाँच करानी चाहिए। अल्ट्रासाउण्ड से पता चल जाता है कि कोई कैंसर का ट्यूमर है अथवा नहीं।
- (७) **आँत का कैंसर**— पैखाना के रास्ते यदि खून का आना जारी हो और यह पहले से हमेशा बढ़ता जा रहा हो तो यह कैंसर भी हो सकता है।
- (८) यदि खाने में निगलने में कठिनाई हो रहा हो, आवाज में बदलाव हो रहा हो या इलाज के बाद भी नहीं ठीक हो रहा हो तो कैंसर की जाँच करानी चाहिए।
- (९) 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' द्वारा आम आदमियों के लिए कैंसर के कुछ लक्षण बताए गए हैं—

◆ पेशाब तथा पैखाना जाने की आदतों में परिवर्तन।	◆ घाव, जो ठीक नहीं हो रहा हो।
◆ असामयिक रक्त का निकलना तथा अन्य स्राव होना।	◆ स्तन में गाँठ महसूस होना।
◆ खाना पचने तथा निगलने में कठिनाई होना।	◆ मससे के रंग तथा आकार में परिवर्तन होना।
◆ खाँसी होना तथा आवाज बन्द होना।	

ये सभी लक्षण हैं, जो कैंसर को इंगित करते हैं। लेकिन मैं कहूँगा कि लक्षण आने पर ही क्यों, आजकल बहुत सारे अस्पतालों में कैंसर डिटेक्शन सेंटर खुल गए हैं, जहाँ पर यदि कोई स्वस्थ आदमी भी चाहे तो जाँच करा सकता है, जिन्हें ये लक्षण नहीं हैं। क्योंकि आज ऐसी भी जाँच आ गई है जिससे कैंसर का पता चल जाता है, इसलिए साल में एक बार स्वस्थ व्यक्ति को भी इन सेंटरों पर आकर अपनी जाँच पूरी तरह से अवश्य करा लेनी चाहिए। याद रखें, कैंसर की चिकित्सा में समय का बहुत महत्व है, बीमारी का पता शुरुआत में चले तो रोग के ठीक होने के आसार भी उतने ही अधिक होते हैं।

—महावीर कैंसर संस्थान के सौजन्य से